I.S.S.N. 0975-6531

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

वैचारिकी

भारतीय संस्कृति-साहित्य की शोध द्वैमासिकी

नवम्बर-दिसम्बर 2025 * भाग 41 - अंक 6

चीन के झांगये डांक्सिया के विविध रंगी चट्टानों वाले पहाड़

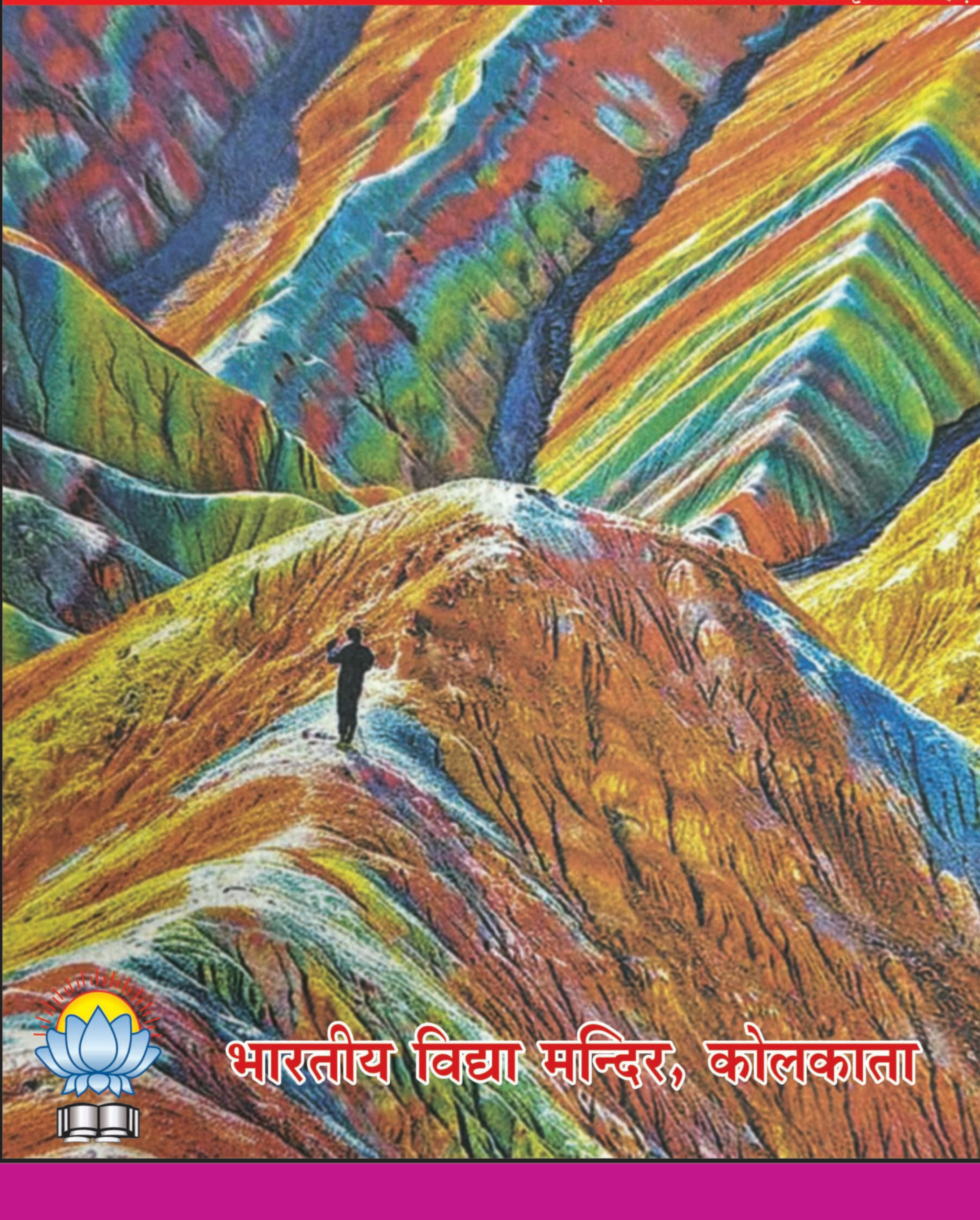

भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता

• वैचारिकी •

नवम्बर-दिसम्बर 2025 भाग 41 अंक 6

भारत के अद्‌भुत शिल्प

राजस्थान की एक पाषाण मूर्ति
जिसमें पारदर्शी घूंघट का निर्माण अद्‌भुत है।

वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

अध्यक्ष व प्रधान-सम्पादक

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादक

डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रबंध-सम्पादक

शंकरलाल सोमानी

योगः कर्मसु कौशलम्

कार्यालय

भारतीय विद्या मंदिर
12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी
कोलकाता-700087
दूरभाष : 033-71001614
मो. : 09830559364
ई-मेल :
bvm.vaichariki@gmail.com
वेबसाइट :
www.bharatiyavidyamandir.com

सदस्यता शुल्क

वार्षिक 450/- रुपये
द्वैवार्षिक 900/- रुपये

सदस्यता शुल्क भेजने हेतु बैंक विवरण :-

A/c. Name :-
Bharatiya Vidya Mandir
Bank Name :-
State Bank of India
Current A/c. No.:-
32030320176
Branch :-
New Market, Kolkata
IFSC Code No. :-
SBIN0004662

I.S.S.N. 0975-6531

वैचारिकी

वर्ष 41 : अंक 6

(धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला)

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

नवम्बर - दिसम्बर 2025 ● कार्तिक शुक्ल 11, पौष शुक्ल 12 वि. सं. 2082 ● रु. 50

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** – 03
- **सम्पादकीय** (एकल अभियान) – 05
- **जांभोजी के 'सबद' का निहितार्थ** – ब्रजेंद्र कुमार सिंहल 09
- **संत साहित्य की प्रासंगिकता** –डॉ. शगुफ्ता यास्मीन 15
- **संत रविदास के साहित्य में सामाजिक चेतना** –डॉ. सुमित कु. मीना 20
- **12वीं शताब्दी की विलक्षण सामाजिक क्रांति : वीर शैवमत परम्परा और अक्कमहादेवी** – डॉ. कमल कुमार 25
- **संस्कृत रूपकों में प्रकरण विधा** – सुदर्शन कुमार 38
- **पूर्व मध्यकालीन भारत में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का स्वरूप** – डॉ. सिद्धार्थ सिंह 44
- **श्रीमद्रामायण में आदिवासी का परिचय** – डॉ. एम. किषन 48
- **भारतेंदुयुगीन व्यंग्य साहित्य में राष्ट्रभक्ति एवं राजभक्ति** – डॉ. अब्दुल लतीफ 53
- **साहित्य-संस्कृति में विस्थापित प्रतिमान** – डॉ. विदुषी आमेटा 57
- **विस्थापित उपन्यास में व्यक्त शरणार्थियों की वेदना** – अपर्णा भारती 64
- **अभिमन्यु अनत की कविताओं में मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति** –डॉ. शशि कुमार शर्मा 68
- **व्यंग्य और व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई** – डॉ. पंकज साहा 72
- **जूठन कुप्रथा का प्रतिफलन 'अक्करमाशी' और 'जूठन'** – अनूप प्रसाद 76
- **अद्वैत वेदान्त की परम्परा में साधनचतुष्टय का अनुशीलन**– डॉ. राकेश कुमार 81
- **परंपरागत भारतीय परिवार का बदलता स्वरूप और वृद्ध**– डॉ. कविता वर्मा 85
- **पाठक मंच** 91
  ▫ पं. गिरिमोहन गुरु 'नगरश्री' के गीत ▫ शेखावाटी का हरिद्वार 'तीर्थराज लोहार्गल'
- **प्रतिस्वर** 95

- प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
- प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
- समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता होगा।

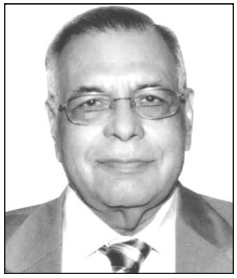

अध्यक्षीय

अभी एक चलचित्र 'धुरन्धर' की बहुत चर्चा है। मैंने इसे देखा तो नहीं है, लेकिन इसकी कथावस्तु के संबंध में बहुत कुछ सुना है। इससे ऐसा अनुभव हो रहा है कि हिन्दू जाति-सनातन संस्कृति अब धुरन्धर बनने की तरफ अग्रसर है। इसकी आवश्यकता भी है क्योंकि हम सनातनी पिछले 1000 वर्षों से बहुत सताये गये हैं। तुर्कों ने आंख मूंदकर सताया और बाद में मुगल शासन की स्थापना भी हुई। हमारे धर्म और संस्कृति पर बहुत अत्याचार किये गए और हमलोगों में जो कमजोर वर्ग के थे, उन्हें साम, दाम, दंड, भेद की नीति अपनाकर धर्म परिवर्तित किया गया। हमारे उत्तर-पश्चिम के उस भू-भाग का बहुत बड़ा हिस्सा उन्होंने कब्जा किया, जिस प्रदेश में वेदों की रचना हुई थी। जिस प्रदेश से हमारे और भी बहुत से शास्त्र ग्रंथ आये उस भूमि पर आक्रांताओं ने कब्जा कर लिया और हमारी ही कमजोरियों के कारण हममें विभेद पैदा कर दिया।

हमारा एक भूभाग तो अंग्रेजों ने बहुत पहले ही अफगानिस्तान, बर्मा और श्रीलंका के रूप में अलग कर दिया था, फिर 1947 में पाकिस्तान और बांग्ला देश के रूप में हमारी खुद की कमजोरी और अंग्रेजों की कूटनीति के कारण अलग हुआ। फिर उसी रूप में अंग्रेजों से स्वतंत्रता मिलते ही, हमारे रजवाड़ों को अंग्रेजों ने स्वतंत्र घोषित कर दिया और उन्हें छूट दे दी कि वे भारत के साथ मिलें या पाकिस्तान के साथ या स्वतंत्र रहें। हमारे रजवाड़े जो पहले मुगलों के गुलाम रहे, फिर अंग्रेजों के, उनमें से तो बहुतों की सूझ-बूझ अत्यंत संदेहास्पद थी। वह तो सरदार पटेल और उनके साथियों की ही दक्षता थी जिन्होंने 400 से अधिक रियासतों को भारत के साथ मिलाया, लेकिन फिर भी कुछ तो महाराज कश्मीर की हीलाहवाली और कुछ हमारी गलत राजनीतिक सोच का लाभ उठाते हुए पाकिस्तान ने जम्मू कश्मीर के एक भूभाग पर कब्जा कर लिया। जम्मू कश्मीर का एक टुकड़ा आज भी उनके अधीन है। इसी तरह 1962 और उसके आस-पास चीन ने भारत पर हमला करके, लद्दाख की 35-40 हजार वर्ग किलोमीटर भूमि अक्साई चिन पर कब्जा कर लिया। यह भी हमारी कमजोरी और ढुलमुल राजनैतिक, सामाजिक सोच का परिणाम था।

इसी तरह पश्चिम के देश भी हमको परिवर्तित कर क्रिश्चियन बना देना चाहते हैं। यह दुरभिसंधि केवल एकपंथ को बढ़ावा देने के लिए नहीं है। इसके पीछे बहुत बड़ा राजनीतिक और आर्थिक षडयंत्र है। कुछ लोग हमारे धर्म और हमारी संस्कृति को नष्ट कर, हमें दबाकर, राजनीतिक और आर्थिक रूप से हमारा शोषण करना चाहते हैं। हम पर शासन करना चाहते

हैं। चीन ने अपने माओ प्रेरित कट्टर साम्यवाद को भी अलग-अलग दुरभिसंधियों के द्वारा भारतवर्ष में फैलाना चाहा। तिब्बत हमारे हाथ से निकल ही गया। हमारा कैलास मानसरोवर हमसे कट गया। अमेरिका और यूरोप अपनी ही गलत नीतियों के कारण आर्थिक और राजनीतिक रूप से कमजोर हो रहे हैं। वे भी हमें दबाकर हमारा शोषण करना चाहते हैं। उन्होंने 100 वर्षों तक एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के देशों का शोषण किया। यद्यपि वे विज्ञान में आगे बढ़े और उन्होंने वैज्ञानिक आविष्कार किये, लेकिन अब उनमें सामाजिक कमजोरी आ गई है। वे आराम-तलब हो गये हैं। हाथ से काम करने की आदत छूट गई तो आर्थिक रूप से वह पहले की तुलना में काफी कमजोर हो गये। इस कारण अलग-अलग तरीकों से हमें दबाकर या हमें तोड़कर वे हमारा शोषण करना चाहते हैं, लेकिन भारतवर्ष में व्याप्त भारतीय सनातनी अभी सशक्त हैं। वे अब इन दुरभिसंधियों का सामना करने के लिए कमर कसे हुए हैं। आर्थिक नेतृत्व के साथ आज के हमारे नेता सामरिक नेतृत्व भी कर रहे हैं। हम आर्थिक, सामरिक और सांस्कृतिक रूप से अपने आपको सुदृढ़ व सक्षम बनाने के लिए दृढ़ संकल्पित हैं।

अब हम इस स्थिति में हैं कि हम शत्रुओं को समरांगण में करारा जवाब दे सकते हैं और दे भी चुके हैं। हमारी सैन्य शक्ति, हमारी आर्थिक सुदृढ़ता के कारण अंगड़ाई लेते भारत की आंख में आंख मिलाकर देखने का साहस अब दूसरे देशों में नहीं है। फिर भी येनकेन प्रकारेण हमें दबाने के लिए चीन व पाकिस्तान और उसके साथी — आजकल बांग्ला देश भी—प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से लगे हुए हैं। पाकिस्तान हमारे अंदर के कुछ सिरफिरे देशद्रोही तबकों के माध्यम से तरह-तरह से हमें कमजोर करने की चेष्टा कर रहा है और ऐसा आभास होता है कि इसके पीछे अमेरिका, यूरोप के कुछ देश और कुछ अंतरराष्ट्रीय इस्लामिक संगठनों का हाथ है। चीन भी इस कुचक्र में लगा हुआ है और हमारे देश में अस्थिरता फैलाने की चेष्टा कर रहा है। मैदान की सीधी लड़ाई लड़ने की हिम्मत अब दुनिया के किसी भी देश में नहीं है। ऐसी परिस्थिति में ये सब अलग-अलग ढंग से हमें तोड़ने की चेष्टा कर रहे हैं।

हमें आत्मविश्वास तो है, लेकिन हमारी कुछ कमजोरियां भी हैं। हम एक होकर के रहना व कार्य करना कम जानते हैं। अगर हमें सब तरफ की दुरभिसंधियों का सामना करना है तो एकजुट रहना पड़ेगा। समाज के सब अंगों को एक साथ रहना होगा। इस दिशा में भारतवर्ष का प्रयास जारी है। हममें जिजीविषा और आत्मविश्वास होना चाहिए कि हम सबसे आगे निकल सकते हैं। अपना खोया हुआ स्थान और अपनी जमीन हम पुनः प्राप्त करें। जो भाई हमसे छिटक गये हैं उनका भी पुनरावर्तन हो जाये और हम सब मिलकर कहें—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

विश्व बंधुत्व की भावना के साथ हम आगे और आगे बढ़ते रहें। इस दिशा में एक छोटा-सा कदम हमने हाल में उठाया है। देश के वैज्ञानिकों और जन-साधारण के बीच एक दूरी बनी हुई है। इस दूरी को कम करने के लिए हमने दिनांक 14 दिसम्बर 2025 को 'साइंस-सोसाइटी सिम्बायसिस' कार्यक्रम का आयोजन किया। इस आयोजन में वैज्ञानिकों तथा सामान्य नागरिकों ने आपसी विचार-विमर्श के द्वारा इस बात पर गहन चर्चा की कि स्वाधीन भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास से आज की सामाजिक और आर्थिक चुनौतियों का सामना कैसे किया जाए। एक सौ से अधिक विशिष्ट वैज्ञानिकों और प्रबुद्ध नागरिकों ने इस कार्यक्रम में भागीदारी की।

– डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

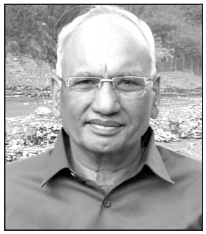

सम्पादकीय

एकल अभियान

वनांचलों के गांवों एवं आदिवासी क्षेत्रों से संबंधित खबरें तब मीडिया में खासतौर पर आती हैं जब वहाँ ईसाई मिशनरियों द्वारा करवाए जा रहे धर्मान्तरण को लेकर कोई घटना होती है। एक मत यह भी है कि आदिवासियों का कोई 'धर्म' नहीं है, उनकी तो केवल परम्पराएं, मान्यताएं, रीति-रिवाज हैं इसलिए धर्मांतरण जैसा कुछ नहीं है, किसी धर्म को मान लेना मात्र है। परंतु कथित हिन्दू धर्म में भी तो परम्पराएँ, मान्यताएं, रीति-रिवाज, विभिन्न आस्थाएं ही हैं, ईसाई, इस्लाम जैसा सार्वभौम-सार्वकालिक धार्मिक अनुशासन नहीं है, तो आदिवासी भी हिन्दू ही हुए। इन वनवासी आदिवासियों, और गाँवों-शहरों में निवास कर रहे दलितों का सामाजिक-आर्थिक-सांस्कारिक उत्थान, अरबों-खरबों की सम्पति वाले हिन्दू मठ-मंदिर (जो सिर्फ लेते हैं देते नहीं) या धार्मिक संस्थानों द्वारा करवाए जाने की खबर जानकारी में नहीं आती। परंतु सुखद जानकारी हुई 'एकल अभियान' की, गत वर्ष श्रीहरि सत्संग समिति कोलकाता चैप्टर (एकल भवन, 123ए हरीश मुखर्जी रोड कोलकाता- 700026) के कार्यक्रम में जाकर, जिसमें भारतीय विद्या मंदिर के अध्यक्ष डॉ. बिट्ठलदास मुंधड़ा एवं उनकी पत्नी श्रीमती यमुना मूंधड़ा ने भी आदिवासी क्षेत्रों में धर्म संस्कार प्रचार हेतु श्रीहरि रथ (वेन) समिति को प्रदत्त किया था। विशाल 'एकल भवन' की ऊपरी मंजिल में भारी सजावट के बीच एक बड़े कक्ष में कथा हो रही थी तो दूसरे बड़े कक्ष में भगवद्गीता का पाठानुष्ठान हो रहा था जिसमें 50-55 कथित पंडित सामने रखे पाटे पर रखी भगवद्गीता की पोथी के पन्ने उथल रहे थे व होठ हिला रहे थे। दुर्गासप्तशती, रामायण, भागवत एवं रामचरितमानस के पाठानुष्ठान होते तो देखे थे, परंतु श्रीमद्भगवद्गीता का पाठानुष्ठान देखने का प्रथम अवसर था!

'एकल अभियान' एक जन-आन्दोलन के रूप में ग्रामीणों एवं वनवासियों में संस्कार, शिक्षा एवं उनके सामाजिक उत्थान हेतु समर्पित है जिसका उद्देश्य देश के चार लाख गांवों के नौ करोड़ वन-वासियों को शिक्षित संस्कारित कर स्वावलम्बी स्वाभिमानी बना कर राष्ट्र की मुख्य धारा में सम्मिलित करना है। इसके लिए श्री हरि सत्संग समिति द्वारा गाँवों एवं वनांचलों में संस्कार केन्द्र, श्रीहरि सत्संग रथ (वीडियो रथ), कथाकार योजना, गौ ग्राम योजना, प्रारंभिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा, संस्कार शिक्षा, जागरण शिक्षा तथा ग्राम विकास शिक्षा के आयोजन संचालित हैं। वर्तमान में लगभग पूरे देश के विभिन्न प्रान्तों में 58268 से अधिक संस्कार केन्द्रों के माध्यम से ग्रामीणों एवं अदिवासियों को भारत की सनातन संस्कृति से जोड़ा जा रहा है। पंद्रह लाख रुपयों की लागत से एक बड़ी वेन को श्री हरि मंदिर रथ रूप में सज्जित किया जाता है। अभी ऐसे 74 रथ मंदिर विभिन्न वनांचलों में जाकर सामूहिक भजन कीर्तन द्वारा तथा संस्कार शिक्षा के वीडियो दिखा कर

सनातन धर्म के जागरण का कार्य करते हैं। 1995 से कथाकार योजना में वनवासी भाई बहनों को कथा प्रवचन का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। इसके अंतर्गत 4500 कथावाचक तैयार किए जा चुके हैं। गो ग्राम मंचों के द्वारा गौ पालन एवं गौरक्षा को प्रोत्साहित किया जाता है। वनयात्राओं के माध्यम से नगरवासियों को वनांचालों के जनजीवन से साक्षात्कार कराया जाता है जिससे इनमें परस्पर सौहार्द का संचार होता है।

एकल अभियान के अंतर्गत 1989 में Friends of Tribals Society (FTS) की स्थापना एक महान उद्देश्य की पूर्ति हेतु हुई जिसमें वनांचलों में प्राथमिक शिक्षा, जागरण शिक्षा, ग्राम विकास शिक्षा, संस्कार शिक्षा एवं आरोग्य शिक्षा की ज्योति जलाने की महत्त्वाकांक्षा का समावेश था। सितम्बर 2024 तक इसके, देश के विभिन्न अंचलों में संचालित 78060 एकल विद्यालयों के द्वारा दस मिलियन से अधिक बच्चों को शिक्षित कर राष्ट्र की मुख्य विकास धारा एवं सनातन संस्कृति से जोड़ा जा चुका है जिनमें से कितनों ने ही उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है। वस्तुतः यह अभियान वनांचलों में शिक्षा, स्वास्थ्य, संस्कार, स्वावलंबन एवं सनातन संस्कृति का अनूठा संगम है जो भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीयता को प्रतिष्ठित करता है। एकल अभियान की शैक्षणिक सेवाओं के लिए भारत सरकार ने इसे 2017 में प्रतिष्ठित गांधी शांति पुरस्कार से सम्मानित किया था। वनांचलों में हो रहे धर्मान्तरण के विरुद्ध हो-हल्ला करने की बजाय ऐसे सर्वस्पर्शी अभियान सार्थक, अभिनंदनीय एवं प्रोत्साहनीय हैं। इस एकल अभियान की जो विस्तृत जानकारी सामाजिक सरोकार वाली पत्रिका 'एकल प्रयास' (ईमेल : ekalparyas@ekal.org) द्वारा दी जारही है वह रोमांचित करती है, प्रेरित करती है।

धर्मान्तरण

मनुष्यता के लिए यह दुर्भाग्य ही है कि मनुष्य की पहचान केवल मनुष्य के रूप में नहीं, अपितु धर्मानुयायी के रूप में है। कहा जाता है कि विश्व में ईसाई इतने हैं, मुस्लिम इतने हैं, बौद्ध इतने हैं, हिन्दू इतने हैं, जैन इतने हैं, सिक्ख इतने हैं आदि आदि। हिन्दुओं में फिर आंतरिक पहचान की समस्या है कि अमुक जाति के इतने हैं, अमुक जाति के इतने हैं, अस्तु।

गत शताब्दी में धर्म, संगठन के आधारभूत तत्व के रूप में उभरा। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही मुसलमान अपने धार्मिक संगठन के बल पर देश का विभाजन करा अपने लिए एक मुस्लिम राज्य प्राप्त करने में सफल हुए। बरक्स इसके हिन्दुओं को हिन्दू राष्ट्र नहीं मिला, जबकि हिन्दुओं के पास संख्या बल था परंतु धार्मिक रूप से संगठित नहीं होने से इनको धर्म निरपेक्ष राज्य मिला जिसमें धर्म के आधार पर भेद-भाव को स्वीकार नहीं किया गया। संविधान में धर्म निरपेक्षता को एक महत्त्वपूर्ण नीति निर्धारक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया परंतु धर्म के आधार पर अल्पसंख्यक, बहुसंख्यक का भेद किया गया। देश विभाजन के बाद हिन्दुस्तान में रह गए मुसलमान अल्पसंख्यक होते हुए भी धार्मिक दृष्टि से संगठित होने से राजनीति में निर्णायक दखल रखते हैं जिससे अपने धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक हितों को साध लेते हैं जबकि हिन्दू बहुसंख्यक होकर भी असंगठित होने से ऐसे हितों को साध लेने में विफल रहते हैं। हिन्दुओं में धार्मिक एकरूपता के अभाव और जातिवाद के कारण इनका कोई सामान्य या सर्वमान्य धार्मिक-सामाजिक हित नहीं है, हित हैं परन्तु जातीय या वैयक्तिक। अल्पसंख्यकता के फायदे उठाने के लिए बौद्ध, जैन, सिक्ख स्वयं को गैर हिन्दू कहते हैं जबकि मूल में वे हिन्दू हैं जो इनके नामों से ही स्पष्ट है। व्यक्तियों के नामों से ही स्पष्ट हो जाता है कि वह हिन्दू है या ईसाई या मुस्लिम है।

1947 में स्वतंत्रता के बाद से ही सत्ता असंगठित हिन्दुओं का अपने हित में उपयोग करती रही, परंतु गत कुछ वर्षों में हिन्दुओं को संगठित कर इनकी बहुसंख्यकता की सत्ता निर्माण में निर्णायक भूमिका को तय करने की भावना जोर पकड़ने लगी तो विभिन्न जातियों, ऊंच-नीच, अस्पृश्यता जैसी आंतरिक कमजोरियों में बँटे हिन्दुओं को एक करने के प्रयास होने लगे, तो इस पर भी ध्यान गया कि मुस्लिम अधिकाधिक संतानोत्पत्ति और सीमा पार से घुसपैठ द्वारा संख्याबल बढ़ाने और दूसरी तरह की धार्मिक कट्टरताओं के जरिये अपना वर्चस्व बढ़ाने में लगे हैं और धर्मांतरण में

भी लगे हैं। उधर ईसाई चुपचाप अपनी धार्मिक गतिविधियों से एवं गरीबों को लालच देकर और स्वास्थ्य व शिक्षा जैसी सेवाओं के माध्यम से हिन्दुओं का व्यापक धर्मांतरण करा रहे हैं। वस्तुतः अपनी धार्मिक-सामाजिक-आर्थिक कमजोरियों के कारण हिन्दू समाज अन्य धर्मवालों, साम्यवादियों एवं समाजवादियों द्वारा निन्दा करने एवं धर्मांतरण का सॉफ्ट टारगेट है।

ईसाई मिशनरियों एवं संस्थानों द्वारा करवाए जा रहे धर्मान्तरण के आंकड़े बढ़ते जा रहे हैं। गत दिनों नॉर्थ ईस्ट वि.वि. मेघालय में हिन्दी के विभागाध्यक्ष डॉ. शैलेन्द्र पाण्डेय की पुस्तक से ज्ञात हुआ कि मेघालय में धर्मान्तरित ईसाइयों की संख्या राज्य की कुल आबादी की 50 प्रतिशत तक होने वाली है। नॉर्थ ईस्ट के अन्य राज्यों में भी ईसाई मिशनरी व्यापक रूप से धर्मान्तरण में लगे हैं। नॉर्थ ईस्ट के अन्य राज्यों में भी धर्मान्तरित ईसाइयों की आबादी 20-35 प्रतिशत हो चुकी है। दक्षिण में केरल धर्मान्तरित ईसाइयों का गढ़ बना हुआ है। केवल कैरियर निर्माण, सीमित संतानोत्पत्ति तथा धर्मांतरण के कारण हिन्दू समाज अल्पसंख्यकता की ओर बढ़ रहा है जिससे सत्य, अहिंसा, मैत्री, उदारता, वैचारिक स्वतंत्रता, दया, करुणा, जीओ और जीने दो जैसे मानवीय मूल्यों वाली हिन्दू संस्कृति नष्ट होने के कगार पर है। वर्तमान में कई राज्य सरकारें धर्मान्तरण विरोधी कानून बना कर इस दिशा में प्रयासरत हैं, परंतु तथ्य है कि हिन्दुओं को संगठित होना होगा और आत्मालोचन कर अपने आंतरिक सामाजिक धार्मिक विकारों, ऊंच-नीच व असमानता, पाखण्डों, अंधविश्वासों, कुत्सित निंदनीय परम्पराओं, अतार्किक मान्यताओं, अंध स्वार्थ पूर्ण वृत्तियों से मुक्त होना होगा।

वर्तमान प्रजातांत्रिक युग में सत्ता का निर्धारण मतों (वोटो) की संख्या से होता है अर्थात् मतदाता मनुष्यों की संख्या राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक समीकरणों को आकार प्रदान करती है। यह प्रजातंत्र में आदर्शनिर्देश है कि मतदाता स्वविवेक से अपने मत का निश्चय करे। परंतु ऐसा व्यवहार में होता नहीं, वह विभिन्न फैक्टरों से प्रभावित होकर मतदान करता है। इन फैक्टरों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो गया है 'धर्म'। यहाँ तक कि विश्व की जनसंख्या को विभिन्न धर्मानुयायियों के रूप में गिना जाता है और किसी देश में इसी आधार पर बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक तय किये जाते हैं। भारत जो कि मूलतः हिन्दुस्तान है में 'हिन्दू' शब्द वस्तुतः देशीयता अथवा राष्ट्रीयता का परिचायक होते हुए भी अब स्पष्ट रूप से एक धर्म के रूप में निरूपित होने लगा है, हालाँकि इस रूप में वह कई धार्मिकताओं, परम्पराओं, प्रथाओं, मान्यताओं, लोकाचारों का समूह है और अनगिनत जातियों-उपजातियों एवं ऊंच-नीच में विभाजित है। गत शताब्दियों में इसे गैर मुस्लिम, गैर ईसाई, अपितु यहाँ तक कि गैर जैन, गैर बौद्ध, गैर सिक्ख के रूप में, नकारात्मकता के साथ एक धर्म प्रतिपादित किया गया जिससे संख्या में सर्वाधिक होने पर भी, उसमें एकता व संगठन का अभाव उसके संख्या-बल को प्रभावहीन कर देता है। जबकि इस्लाम व ईसाई धार्मिक दृष्टि से अल्पसंख्यक होते हुए भी अपनी एकता व संगठन के कारण अपनी अल्पसंख्यकता को बहुसंख्यकता जैसी प्रभावशाली बना लेते हैं।

हिन्दू धर्म, इस्लाम-इसाई की तरह किसी व्यक्ति विशेष द्वारा किसी काल विशेष में प्रवर्तित नहीं है। इसमें तो अनंत काल से चली आ रही लौकिकता है जिसमें कोई आस्था-मान्यता हेय या निंदनीय नहीं है। अतः इसका स्वरूप इस तरह का है कि इसमें किसी अन्य धर्मावलम्बी को धर्मान्तरित कर सम्मिलित करने की व्यावहारिकता नहीं है, जबकि हिन्दुओं में दूसरे धर्म में अंतरित होने के मार्ग खुले हैं। इसीलिए कविकुल गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था, हिन्दू में से बाहर जाने के अनेक मार्ग हैं जबकि अंदर आने का कोई मार्ग नहीं है। इस स्थिति का लाभ उठा कर इस्लाम व ईसाई धर्म येन केन प्रकारेण, जोर जबरदस्ती, लालच देकर, छल-बल से, सेवा-सहानुभूति या स्वधर्म की स्वरूपगत विशेषता की ओर आकर्षित कर धर्मान्तरण के द्वारा हिन्दुओं के संख्या बल को घटाने की साजिश कर रहे हैं जिससे हिन्दू राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक समीकरणों को स्वपक्ष में नहीं कर पा रहे हैं और धीरे धीरे अपने ही देश में उपेक्षित हो रहे हैं। गत कुछ वर्षो में इस स्थिति को समझ कर हिन्दू एकता के प्रयास किए गए जिसके राजनीतिक परिणाम

हिन्दुओं के पक्ष में तो रहे ही राष्ट्र को मजबूत करने के पक्ष में भी रहे। इस स्थिति को बनाए रखने के लिए धर्मान्तरण को रोकने की आवश्यकता समझी गई जिससे कुछ राज्यों में धर्मान्तरण रोकने के लिए कानून बनाने की पहल हुई है। गत दिनों राजस्थान विधान सभा में 'राजस्थान विधि विरुद्ध धर्म संपरिवर्तन प्रतिषेध विधेयक 2025' पारित होने के दौरान विधायकों द्वारा प्रस्तुत जानकारी चौंकाने वाली है। गत वर्षो में राजस्थान में धर्मान्तरित ईसाइयों की संख्या में जबरदस्त वृद्धि हुई है। पड़ौसी राज्य पंजाब में ईसाइयों की संख्या तेरह लाख से तीस लाख हो चुकी है।

यह चिंत्य है कि 24 सितंबर 2025 तक चर्चो की संख्या 28278 थी जो अब लगभग 4000 तक पहुँच गई है। चैपल (छोटे आराधनालय) कितने हजार हैं, पता नहीं अर्थात् अनगिनत हैं। देश में सर्वाधिक ईसाई आबादी वाले प्रांत केरल, मेघालय, नागालैंड, मिजोरम हैं। इन राज्यों में ईसाई आबादी 35-40 प्रतिशत तक पहुंच चुकी है। ईसाई और इस्लाम संगठित धर्म हैं जिनका अपना-अपना धार्मिक-सामाजिक अनुशासन है और इनमें अन्य धर्मियों को धर्मान्तरित कर अपने में मिलाने को महान धार्मिक कृत्य के रूप में देखा जाता है और इसके लिए विभिन्न मुस्लिम व ईसाई देशों से आसानी ने खूब फंडिंग उपलब्ध है। ये सब स्थितियां हिन्दू धर्म में नहीं हैं, न इसमें एक धार्मिक-सामाजिक अनुशासन है और धर्म-रक्षा के लिए फंडिंग का तो प्रश्न ही नहीं है, फंडिंग सारी 'सुख-सम्पति घर आवे' के लिए मठों-मंदिरों, ब्राह्मण-पण्डों, बाबाओं के लिए है; गरीबों, दलितों, आदिवासियों, अंत्यजों के लिए नहीं? धर्मान्तरण के लिए मुस्लियों, ईसाइयों का सॉफ्ट टारगेट (पिलपिला लक्ष्य) हिन्दू है उसमें भी आदिवासी, जिनके सन्दर्भ में राजस्थान विधान सभा में धर्मान्तरण प्रतिषेध विधेयक पारित होने के दौरान भारत आदिवासी पार्टी के श्री थावरचन्द ने कहा कि आदिवासियों का कोई धर्म नहीं होता इसलिए उनके दिए अलग कोड होना चाहिए? इस विधेयक का ईसाइयों के साथ-साथ अपने को अल्पसंख्यक कहने वाले जैन, बौद्ध, सिक्खों ने भी विरोध किया, जो मूलतः हिन्दू हैं, विडम्बना है! दो-तीन राज्यों ने धर्मान्तरण निरोधी विधान बनाए हैं, परंतु हिन्दुओं को पूर्वोक्त 'एकल अभियान' जैसे प्रयास करने होंगे, नहीं तो सामाजिक असामनता, गरीबी, अशिक्षा, संस्कारहीनता के कारण धर्मांतरण होता रहेगा।

– डॉ. बाबूलाल शर्मा

व्रत और संयम

- *कोई भी प्रतिज्ञा करना या व्रत लेना बलवान का काम है, निर्बल का नहीं।*
- *व्रत में अपार शक्ति होती है, क्योंकि उसके पीछे मनोवैज्ञानिक दृढ़ता होती है।*
- *संयम के बिना व्रत असम्भव है, इसलिए पहले संयम का पालन करना सीख लेने पर ही व्रत लेने और उसे पूरा करने का बल मिलता है।*
- *दुर्बल मन का मनुष्य संयम पालन नहीं कर पाता; पर जिसके मन में लगन हो वह अभ्यास से संयम-पालन सीख सकता है।*
- *सब संयमों का मूल जिह्वा और नाली के नियंत्रण में बसता है।*

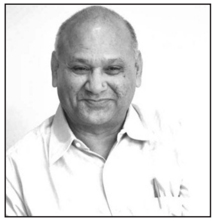

जांभोजी के 'सबद' का निहितार्थ

ब्रजेन्द्रकुमार सिंहल

क. शबद का अर्थ : भारतीय प्राचीन रचनाकार अपनी कृतियां संस्कृत भाषा में लिखने के आदी थे। बौद्ध सिद्धों ने लोक भाषा में लिखना समारंभ किया जिस पर कुछ न कुछ संस्कृत भाषा का प्रभाव रहा। संस्कृत भाषा का सदाबहार छन्द रूप 'अनुष्टुप' है जिसकी चाल पर ही सिद्धों ने अपने दोहे लिखे। 'दोहा' का मतलब दो पंक्ति वाला छंद है। वैदिक साहित्य 'गान' प्रधान है। इसकी ही चाल पर इन सिद्धों ने गान अर्थात गीत लिखे जो गये हैं। इन्हीं को 'बौद्ध गान ओ दोहा' कहा गया है। कालांतर में जब नाथयोगी गोरखनाथ का प्राकट्य हुआ तब उन्होंने गानों को 'सबद' और दोहों को 'सबदी' कहा। जो गेय थे, आकार में बड़े थे तथा जिनमें एक सुनिश्चित शृंखलाबद्ध स्पष्ट विचार संग्रथित थे, उनको गोरखनाथ ने 'सबद' कहा। जो आकार में छोटी, विचारों में सूत्रात्मकता लिये रचनाएँ थीं, उनको 'सबदों' की तुलना में 'सबदी' कहा। वस्तुतः 'सबद' उपदेश को कहते हैं जैसा कि न्यायदर्शन का सूत्र है– *'आत्मोपदेशः शब्दः'* अर्थात आत्मा का उपदेश ही शब्द है। (न्यायदर्शन, अध्याय एक, सूत्र सात)। गोरखनाथ ने 'सबद' को स्पष्ट करते हुए कहा है– *सबदहिं ताला सबदहिं कूँची, सबदहिं सबद जगाया। सबदहिं सबद सूँ परचा हुआ, सबदहिं सबद समाया।। सति का सबद विचारी* (गो. वाणी, पृष्ठ-8), *शब्द रूप सतलोक है, शब्द रूप परब्रह्म।* (गो. वाणी, पृष्ठ-68), *शब्द रूप सव हंस है, ताही कूँ परणम्य।।*

गोरखनाथ की उक्त उद्धरित रचनाओं में शब्द को सत्य स्वरूप, द्वैताद्वैत विवर्जित परब्रह्म भी कहा गया है तथा उस परब्रह्म-नाथ स्वरूप परमात्मा को पाने की ताली भी कहा गया है। शब्द ही ताला, शब्द ही कूँची है। शब्द ही शब्द को जगाता है। जब जागने पर, सावधान हो जाने पर शब्द से शब्द का परिचय, आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता है, तब आत्मा और परमात्मा का एकाकार हो जाता है। यही तो शब्द की, वचन की, उपदेश की सार्थकता है। वस्तुतः ब्रह्म रूप ब्रह्म विद है, अतः उसकी वाणी वेद है। भाषा या संस्कृत, भ्रम छंद में अंतर करता है। -विचारसागर, तृतीय तरंग, दोहा-10।

ब्रह्म-विद् ब्रह्म ही है। उसकी वाणी वेद है। वह वाणी-उपदेश चाहे भाषा में हो, चाहे संस्कृत में हो, वह भेद रूपी भ्रम का उच्छेद कर अद्वैत में अवस्थान कराती ही है। संत सम्राट कबीर 'सबद' शब्द के बारे में कहते हैं– *पद गाएं मन हरषिया, साखि कह्या आनंद। सो तत नाम न जाणिया, गल में पड़िया फंद।।* कबीर-ग्रंथावली, पृ.38।

तुम्ह जिनि जानो गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार।। कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ-89।
अणी सुहेली सेल की, पड़ताँ लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुरु मैं दास।। कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ-62।

रे तैं जोग जुगति जान्या नहीं, तैं गुरु का सबद मान्या नहीं।। कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ-97।

यदि पदों को गाने से मन हर्षित हो तथा साखियों को कहने से आनंद होता हो, किन्तु उनमें निहित तत्वज्ञान को न जाना हो, आचरण में उतारा न हो तो वह पदों का गाना व साखियों का कहना बंधनकारक ही है, वे मुक्ति के साधन नहीं हैं।

वस्तुतः गुरु उपदेश देता है कि शिष्य उसको सुनकर तदनुसार साधना कर आत्म कल्याण करे। यदि शिष्य उपदेश को सुने तो सही, किन्तु आचरण में न उतारे तो वह उपदेश सुनना व्यर्थ ही है। शिष्य से कहते हैं, 'अरे! तूने योग की युक्ति को जाना नहीं, क्योंकि तूने गुरु के शब्दों को, उपदेशों को माना ही नहीं।'

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि संतों का अग्रगामी नेतृत्व करने वाले गोरखनाथ और कबीर साहब दोनों ने ही 'सबद' शब्द का प्रयोग 'उपदेश' के अर्थ में किया है। अब हमें देखना है कि जांभोजी महाराज ने अपने उपदेश 'सबदों' को किस नाम से व किस अर्थ में प्रयुक्त किया है। सबद 4/1 में कहते हैं– *'आइया लो अपरंपर वाणी' कि हे लोगो! मेरी वाणी अपरंपर है।* 'ब्रह्म-वाणी' को ही जांभोजी ने 'अपरंपर वाणी' कहा है। जैसा पूर्व में कह आये हैं, ब्रह्मविद की वाणी, कथन, उपदेश, वचन, वेदों के वचन ही हैं। 'वेद सदृश' कहने और 'वेद-वचन ही' कहने में महदन्तर है। इस संबंध में संत निश्चलदासजी ने विचार-सागर ग्रंथ में गंभीर विचार किया है। जिनको विशेष जानना हो, वे छठी तरंग के छंदांक 30 व उसकी विवृति को देखें। तात्पर्य यह है कि इस वचनानुसार जांभोजी अपने उपदेशों को, सबदों को 'ब्रह्म-वाणी' कहते हैं। संभवतः इसीलिये विष्णोई जांभोजी के सबदों को मात्र 'सबद' न कहकर 'सबद-वाणी' कहते हैं। सबद 4/2 में जांभोजी एक बहुत बड़ी शंका का समाधान भी करते हैं। वे कहते हैं, मैं उसका जाप करता हूँ जो न जन्मता है और न मरता है। इसका तात्पर्य यह है कि जांभोजी महाराज ब्रह्म को जानकर ब्रह्म रूप हुए थे, ब्रह्म के राम-कृष्ण के समान अवतार नहीं थे। मुण्डकोपनिषद कहता है *'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'*। ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है। इस मंत्र में 'एव' पद महत्त्वपूर्ण है। जांभोजी की संबंधित सबद है *'म्हे जपां न जाया जीयों।।' किन्तु इस मतवाद का खंडन करने को इसी शब्द में, आगे चलकर 4/3-4 कहते हैं कि 'नव अवतार न्यंमो नारायण। ते पंणि रूप हमारा थीयों।।'*

पूर्वकाल में नवावतार हुए हैं, वे भी मेरे ही स्वरूपभूत थे। इसके द्वारा जांभोजी स्वयं को दसवाँ कल्कि का अवतार बताते हैं। यह जांभोजी की अपनी उद्घोषणा है जिसको विष्णोई-जन अक्षरशः मानते हैं। वेद, ब्रह्म के मुख से निःसृत ब्रह्म की वाणी है। इसीलिए वेदों को अपौरुषेय कहा जाता है। जांभोजी विष्णु के दसवें अवतार हैं; अतः उनके सबद भी वेदवाक्य ही हैं, यह सिद्धांत भी इस शब्द से सिद्ध होता है।

'सबद' को परिभाषित करते हुए जांभोजी महाराज सबद संख्या 12 में पूरी स्पष्टता से कहते हैं– 12/1 में कहते हैं 'मेरा कथन अर्थात् उपदेश वेद कथन है जो तत्त्व का भेद अर्थात् यथार्थ तत्त्व बताता है। *'मोरा उपख्यान वेदूं कंण तंत भेदूं'।*

अगले ही सबद 12/2 में कहते हैं कि यह शास्त्रों, पुस्तकों में लिखा नहीं जा सकता। *'सासत्रे पुस्तके लिखणां न जाई।'*

मुण्डकोपनिषद् में भी आत्म-तत्त्व न तो प्रवचन करने से, न बुद्धि से, और न ही बहुत सुनने से प्राप्त होता है, कहा गया है। आत्म-तत्त्व तो उसको ही प्राप्त होता है, जिसको यह आत्म-तत्त्व स्वीकार कर लेता है- 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।'

यमेवेष वृणुते तेज लभ्यस्तस्यैस्व आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम।। कठोपनिषद 1/2/23 तथा मुण्डकोपनिषद् 3/2/3, सबद 12/3 में एक और महत्वपूर्ण बात कही गई है जिसका विस्तार हम आगे बताएंगे। यहां तो सबद का अर्थ बताने भर को उद्धृत कर रहे हैं। कहते हैं- *'मोरा सबद खोजो ज्यूं सबदे सबद समाई'*

जिस प्रकार सबद, सबद में समाया हुआ है, मेरे उस सबद को खोजो। इसका तात्पर्य यही है कि जांभोजी महाराज कह रहे हैं कि आप मेरे उस वचन को, मेरे उस उपदेश को खोजिए जिसमें मैंने कहा है कि शब्द रूप ब्रह्म में शब्द रूप आत्मा समाहित हुआ है।

यथार्थ में, ब्रह्मात्मैक्यज्ञान ही ब्रह्म अथवा ज्ञान

अथवा सबद का स्वरूप है। अगले सबद 13/1-2 में और भी स्पष्टता से कहते हैं– *'सुर मां लीणां झीणां सबदूं। म्है भूलि न भाख्या थूलूं।।'* अर्थात् मेरे इन सूक्ष्म (तत्व निरूपण करने वाले) शब्दों (के भावों को ब्रह्मबोधिनी-वृत्ति) से ग्रहण करना चाहिए। मैंने आचारहीनों के प्रति भूलकर भी (इन शब्दों का) कथन अथवा उपदेश नहीं किया है। सबद का वचन, उपदेश, कथन के अर्थ में प्रयोग अन्यान्य सबदों में भी स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है। यथा

मोरे सहजे सुंदर लोतर वाणी (15/1),
गुरु के सबद असंख्या प्रबोधी (27/1)

अर्थात् गुरु के शब्दों से, उपदेश से असंख्यों को प्रबोध प्राप्त हुआ है। जांभोजी के परवर्ती रचनाकारों ने भी जांभोजी के सबदों के बारे में कहा है– *प्रथम बंदि गुरु वचन भरम भव भंजन आये। सहज सील संतोष मोक्ष गति पंथ बताये। आदि धर्म अहिनाण बाकी सब हीन बताये। छूटे सबहि विचार सार जिन रहस चलाये।। उपाख्यान वेद अद्भुत कथा त्रिगुण जीव तारण तरण। झणकत वेद झीणा सबद सुरजन कवित सिंभू सरण।। एक समय हरषाय देवजी बात चलाई। कनोज कालपी समद पर की कहि सँभलाई।। -सुरजनदासजी, जम्भसार, पृ.19* कह साथरिया देव थे कद गया? *म्हे दीठा जैसलमेर साथरी पयथयां।। देव के आई इलोल सबद तब ऊचरा। हर हाँ सबद हमारा रूप सबद सब विश्वकरा।।* - जंभसागर (स्वामी रामानन्द का संस्करण), पृष्ठ-319

ख. शब्द-ब्रह्म : शब्द ही ब्रह्म है। ऐसा वाक्य-पदीयकर वैयाकरण भर्तृहरि का कथन है- *'अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्। विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रियाजगतो यतः।।* अनादि और अंत रहित जो अक्षर (अविनाशी) शब्द तत्त्व है, वही ब्रह्म है। वही अर्थ रूप से भासित होता है और उसी से जगत् की क्रिया (सृष्टि) है।

श्रीमद्भगवद्गीता 8-13 में कहा गया है- *ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।* जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ (और इसके अर्थ स्वरूप) निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागकर जाता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवत 11/21/35-36 में भी शब्द को वेद-ज्ञान स्वरूप कहा गया है और ब्रह्म का स्वरूप 'सत्यंज्ञानमनन्तं, ब्रह्म, सत्य, ज्ञान व अनन्त रूप है।

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे। परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ।।35।।

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्। अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ।।36।।

वेदों में तीन काण्ड हैं– कर्म, उपासना और ज्ञान। इन तीनों काण्डों के द्वारा प्रतिपादित विषय है 'ब्रह्म और आत्मा की एकता', सभी मंत्र और मंत्र-द्रष्टा ऋषि इस विषय को खोलकर नहीं, गुप्त-भाव से बतलाते हैं और मुझको भी इस बात को गुप्त रूप से ही कहना अभीष्ट है ।।35।। शब्द (वेद) ही ब्रह्म है। उसका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है। वह शब्द-ब्रह्म परा, पश्यंती और मध्यमा वाणी के रूप में प्राण, मन और इन्द्रिय-मय है। समुद्र के समान सीमा रहित और गहरा है। उसकी थाह लगाना अत्यन्त कठिन है ।।36।। श्रीमद्भागवत के ही 11/17/11 में भी कहा गया है–

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्। उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तिकिल्बिषा ।।11।।

उस समय केवल प्रणव ही वेद था और तपस्या, शौच, दया एवं सत्य रूप चार चरणों से युक्त मैं ही वृषभ रूप धारी धर्म था। उस समय के निष्पाप एवं परम तपस्वी भक्तजन हंस स्वरूप शुद्ध परमात्मा की उपासना करते थे। पातञ्जल-योगशास्त्र में भी प्रणव को परब्रह्म-परमात्मा का वाचक बताया गया है। *तस्य वाचकः प्रणवः ।।27।।*

स्वामीजी श्रीरामचरणजी महाराज ने शब्द को ही निरंजण-ब्रह्म कहा है। तदतिरिक्त को माया (अंजण) बताया है।

माया व माया-जन्य शरीर-धारी नष्ट होते हैं किन्तु निराकार शब्द को काल नहीं खाता। सारी सृष्टि का अधिष्ठान ब्रह्म है फिर भी वह शब्द सृष्टि में कहीं भी, कभी भी लिपता नहीं है। असंख्यों युग बीत गये हैं फिर भी शब्द एकरस विद्यमान है। पिछले अनंतों युगों में और आगामी अनंतों युगों में शब्द रूप ब्रह्म अधर व

निराधार रहा है और रहेगा। रामचरण कहता है, ऐसे शब्द-ब्रह्म का वास्तविक मर्म कोई-कोई बिरला ही जानता है।

सबद निरंजण ब्रह्म और अंजण सब माया। धरियादिक कल जाइ सबद के काल न काया।। सृष्टि सबद आधार सबद नहिं लिपै छिपाया। गये असंखि जुग बीती सबद कहुँ गया न आया।। अनंत जुगां आगै अनंत अधर सबद निरधार। रामचरण या सबद का कोइ बिरला लहै विचार।। –अनुभव-वाणी कवित्त 27/5, पृष्ठ-338, सं. ब्रजेन्द्रकुमार सिंहल संत रज्जब ने तो इस संबंध में इतना सटीक कहा है कि उनके तर्कों और प्रमाणों को शिरसा मान लेने को मन करता है। वे कहते हैं– *नाम निनामे के घरे, संतों सोध सुभाय। रज्जब माने रामजी, सुमर्यौं करी सहाय।। -रज्जब की सरबंगी,* 21/1, पृष्ठ-266, सं. ब्रजेन्द्रकुमार सिंहल।

निर्गुण-निराकार परमात्मा का नाम नहीं था। वह अनाम था। संतों ने सहज स्वभाववश विचार करके उसका नाम निश्चित कर दिया। किसी ने ॐ नाम रखा, किसी ने शिव तो किसी ने राम निश्चित किया। सभी अपने-अपने द्वारा निश्चित किये हुए नाम से उसको पुकारने लगे। परमात्मा ने उन सभी नामों को स्वीकार कर लिया। परमात्मा द्वारा स्वीकृत नाम का साक्षी इस बात से मिलता है कि जब भी कष्ट पड़ने पर भक्तों ने भगवान को नाम लेकर याद किया तब ही भगवान ने तत्काल भक्तों की सहायता की। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा नाम-मय और नाम भगवन्मय है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसीलिये नाम व नामी में अभिन्नता प्रतिपादित की है

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी।। मानस, 1/21/1। जिस प्रकार कबीर ने राम से भी गुरु को बड़ा बताया है, वैसे ही तुलसीदास नाम को नामी से भी बड़ा बताते हैं। क्योंकि नाम से नामी मिलता है। *ब्रह्मा राम ते नामु बड़, बर दायक वर दानि। रामचरित सत कोटि महँ, लियँ महेस जियँ जानि।। -मानस, 1/25।*

जैसा हम पूर्व में कह आये हैं, जांभोजी महाराज भी ब्रह्म को शब्द स्वरूप, नाम स्वरूप मानते हैं। विष्णोइयों का मानना है कि जांभोजी का पहला सबद जंभ-वाणी का बीज है। इसमें जांभोजी ने अपने मुख्य-मुख्य विचारों को सूत्र रूप में कहा है। यथा-1/3-4।

जो गुर होयबा सहजे सीले नादे बिन्दे, तिंह गुर का आळिंगार पिछाणी। जो गुरु होता है, उसको इन गुणों से पहचानो- वह जीवात्मा को शरीर से भिन्न समझता है (सहजे), शीलवान होता है, जिसको शब्द-ब्रह्म और आत्मा का ज्ञान होता है (नादे-विन्दे)। नाद का मतलब ध्वनि है और ध्वनि अविनाशी होती है। अविनाशी मात्र केवल परब्रह्म-परमात्मा है। यही सिद्धांत वाक्यपदीयकार वैयाकरण भर्तृहरि ने प्रतिपादित किया है जिसका विवेचन पूर्ववर्ती परिच्छेद में हमने किया है। बिन्दु आत्मा का समानार्थक है। अतः इस पहले सबद से ही जांभोजी महाराज ने शब्द व ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादित कर दिया है। संभवतः पाणिनी ने इसीलिये शब्द और अर्थ तथा उनके परस्पर संबंध को नित्य कहा है।

'नित्ये शब्दार्थ संबंधे।'

विचार करने के लिये यह भी जानना आवश्यक है कि जांभोजी का शब्द स्वरूपी ब्रह्म कैसा है। इस पर सबद तीन में कहते हैं– तदि हुंता एक निरंजण सिंभू, कै हुंता धुंधकारूं।।21-22।। बात कदो की पूछै लोई, जुग छतीस विचारूँ ।।23-24।। ताहि परे र अवर छतीसां, पहला अंत न पारूँ ।।25-26।। म्हे तदि पंणि हुंता, अब पंणि अछां, बळि बळि हुयस्यां ।।27-28।। कदि कदि कदि का कहूँ विचारूँ ।।29।।

तब एकमात्र निरंजण स्वयम्भू ही था ।।21।। या धुंधलेपन की स्थिति थी ।।22।। हे लोगो! आप कब की बातें पूछते हो ।।23।। मुझको तो छत्तीसों युगों की जानकारी है ।।24।। उनसे भी पूर्व और छत्तीस युगों का ।।25।। जिनका आदि-अंत नहीं, मुझको ज्ञान है ।।26।। मैं तब सृष्टि के आदि के पूर्व भी था, अब भी हूँ ।।27।। और पुनः पुनः (भविष्य) में भी रहूँगा ।।28।। कहो! मैं कब-कब की बात कहूँ ।।29।।

उक्त उद्धरण में दो शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। एक है 'निरंजन' अर्थात् जो माया से अवशिष्ट है; माया रहित है। माया-रहित निर्गुण-निराकार ही होता है। दूसरा स्वयम्भू अर्थात् जिसको वनाने वाला कोई और नहीं। वह स्वयं

ही उत्पन्न है। कारण रहित है। जो अनुत्पन्न होता है, वह तीनों कालों में सदैव एकरस रहता है। न कभी जन्मता, न मरता है। न कभी उसमें अवस्था भेद होता है। इन सभी बातों को 3/27-29 में कहा गया है कि मैं सृष्टि के आदि में भी था, सृष्टि के मध्य अर्थात वर्तमान में भी हूँ और भविष्य में भी रहूँगा। बील्होजी, जो जांभोजी के पौत्र-शिष्य थे, ने भी इसी प्रकार कहा है–

तदि पणि होता अब अदै, वळि वळि होयसी सोय।
तास निरंजण देव नै, विरलौ चीन्है कोय।।
-ग्यानचरी

सबद संख्या 4/1-3 में कहते हैं– *अइया लो अपरंपर वाणी, म्हे जपां न जाया जीयौं। हे लोगो! मेरी वाणी 'ब्रह्म-वाणी' अर्थात् अध्यात्म-वाणी, ज्ञान-वाणी है ।।1।। मैं किसी उत्पन्न होने वाले भगवान् का, अवतार का जप नहीं करता ।।2।। परात्पर-परतत्त्व नारायण के नौ अवतार हो चुके हैं, वे सभी मेरे ही स्वरूपभूत हैं ।।3।।*

सबद 5 में पुनः जांभोजी महाराज स्वयं को भुवन-भुवन अर्थात् समस्त ब्रह्मांड के सचराचर में स्वयं की ही ज्योति होना कहते हैं। इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि जांभोजी महाराज सच्चिदानंद, ज्योतिस्वरूप, एक ब्रह्म की ही सत्ता संपूर्ण ब्रह्मांड में मानते हैं और वह ज्योति जांभोजी ही हैं। ।।15/1।।

इसी सबद 5/5-6 में ब्रह्म के निषेधात्मक और विधिमुख लक्षण बताते हैं। कहते हैं, वह ब्रह्म अलह है अर्थात् जो दृष्टि अथवा मुट्ठी में नहीं आता। अलेख है अर्थात् देखने में नहीं आता क्योंकि वह निराकार है। अडाल = बिना डाल वाला अर्थात् कला-विभाग रहित, निष्कल, मूल रूप है। स्वगत, सजातीय व विजातीय भेद शून्य एक, अद्वैत रूप है। अजोनी अर्थात् जो योनी-द्वार से होकर जन्मता नहीं अथवा जिसको जन्म देने वाला और कोई नहीं। अतः अजन्मा है क्योंकि वह स्वयम्भू स्वयं ही उत्पन्न हुआ है। ऐसे परात्पर-परब्रह्म का विनाश कैसे संभव है? अर्थात् ऐसे ब्रह्म का विनाश नहीं होता। वह अविनाशी है।

भवणि भवणि म्हारै एका जोती ।।1।।
चुणि चुणि लीया रतनां मोती ।।2।।
अलाह अलेख अडाल अजोनी सिंभू ।।5।।
जिंहका किसा विनाणी ।।6।।

ग. सबद रूप ब्रह्म को पाने का साधन : जैसा पूर्व में कहा गया है, जाम्भोजी स्वयं परात्पर-परब्रह्म-ज्योतिस्वरूप, अजन्मा, अविनाशी, निरंजन, निष्कल और स्वयंभू हैं। प्रश्न यह उठता है कि इस परात्पर-परब्रह्म की प्राप्ति हेतु कौन सा मार्ग अपनाया जाए, जिससे कलिकाल का अल्पायु प्राणी भी उसे सहजता और सुरक्षापूर्वक प्राप्त कर सके।

सबद 6 में ही जांभोजी महाराज आत्मजिज्ञासुओं से प्रश्न करते हैं, हे हिन्दुओ! तुम हिन्दू होकर भी श्रीहरि का जप क्यों नहीं करते? क्योंकर मन को दसों दिशाओं में फैला रखा है?

हिन्दू होय कै हरि क्यूँ न जंप्यौ, कांय दह दिस दिल परसायौ? 6/1-2।

इसी 6/20-21 में पुनः कहते हैं, बाल्यावस्था, युवावस्था में विष्णु का जाप नहीं किया, कोई बात नहीं, तूने तो वृद्धावस्था में भी विष्णु का जाप नहीं किया। इस प्रकार तूने पूरे जीवन भर कच्ची और निरर्थक कमाई की है अर्थात् पूरे जीवन को सांसारिक क्रिया-कलापों में व्यतीत कर डाला। विष्णु का भजन नहीं किया।

बिंबै वेला विसन न जंप्यौ, ताथैं काची निकच कमायौ।। 6/20-21

तुलसीदास भी रामचरितमानस में इसी प्रकार का कथन करते हैं– *सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ। कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ।।*

आत्म-जिज्ञासुओं ने जांभोजी से पूछा, घर-गृहस्थी के कामों से फुर्सत ही नहीं मिलती। भगवद्भजन कैसे करें। तब उन्होंने सबद क्रमांक 99 कहा– *विसन विसन तूं भंणि रे प्राणी जे मन मानैं रे भाई ।।1।। दिन को भूलो राति न चेत्यो, कांय पड़ि सूतौ ।।2।। आस किसी मन थाई ।।3।। कुढि काची लगवाड़ घणा छै, कुसल किसी रे भाई ।।4।। हिरदै नांव विसन को जंपौ, हावे करो टबाई ।।5।। हे भाई!* यदि तेरा मन मानता है तो तू 'विष्णु', 'विष्णु' जप कर ।।1।। तूने सारा समय व्यर्थ ही खो दिया। निश्चिंत होकर सोया पड़ा है ।।2।। तेरे मन में किसकी आशा है ।।3।। तेरा शरीर नश्वर है और

झंझट अनेक हैं। ऐसी स्थिति में तेरी कुशल कैसी? ।।4।। इसलिये हृदय में तो विष्णु का नाम जप और हाथों से कार्य कर ।।5।। इस सबद की पाँचवी पंक्ति अत्यंत महत्वपूर्ण है जिसमें कहा गया है कि हाथों से काम करो और मन में विष्णु के नाम का जप करो।

लोक में एक दोहा बहुत प्रचलित है– *'काम करे जा राम रटे जा, का काहू का डर है'* ठीक यही बात अर्जुन से श्रीकृष्ण ने कही है–

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च।
मयर्पितमनोबुद्धिर्मामेवेशष्यसंशयम्।।

इसलिये हे अर्जुन! समस्त समय मेरा स्मरण कर व युद्ध भी कर। मन और बुद्धि को मेरे में अर्पित कर देने से मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है।

युद्ध करने में पूर्ण एकाग्रता चाहिए। भगवत्स्मरण में भी मन व बुद्धि को भगवन्मय बनाने का आदेश श्रीकृष्ण देते हैं। दोनों में तालमेल वैसे ही बैठाना, जैसे पनिहारिन माथे पर मटका रखकर रास्ते में चलती हुई सहेली से बात करती है किन्तु उसका ध्यान मटके में होता है। ऐसे ही दैनंदिन काम-काज करते हुए विष्णु-स्मरण करना ही जांभोजी के अनुसार सच्चा विष्णोई बनना है। मात्र पाहल पी लेने से, हवनादि करने से ही विष्णोई नहीं बना जाता। स्वामी रामचरणजी ने कहा है, ऐसे लोगों की वैसी ही स्थिति होती है जैसी *'ज्यूँ बिनि बीज सुधारी धरणी।।'*

विष्णोई परमानंद बणिहाल ने भी कहा है–

करि माला मुख जाप करि, हरि सूँ सुरति लगाय।
निसि वासारि सिंवरै विसन, तो पाप र ताप न्हसाय।।2।।

सास उसास सिंवर विसन, सदा निरंतर सोय।
परमानंद चित प्रीति करि, ऐसा मिंत न कोय।।5।।
जीमत पीवत सोवताँ, हिरदै हरि न बिसारि।
सुरति रहै सुमरण विषै, तो पावै हरि दीदारि।।6।।
पसु बोलायो बोल ही, नर भी आवै पासि।
करता किरपा करत है, अंतरि की अरदासि ।।7।।

❑❑

284, Sultan Sadan,
2nd Lane No.3 West End Marg
Saidulajab, Maharauli
New Delhi-110030
Mo. 9351503555

ज्ञान

- *ज्ञान की कोई सीमा नहीं होती।*
- *बिना ज्ञान के सही स्वतंत्रता नहीं मिलती।*
- *ज्ञान, उपासना और कर्म ईश्वर-प्राप्ति के तीन विभिन्न मार्ग नहीं हैं, ये तीनों मिलकर एक ही मार्ग हैं।*
- *ज्ञान ही प्रकाश है। उसके बिना हम एक कदम भी नहीं चल सकते।*
- *जो ज्ञान केवल दिमाग में ही रह जाता है और हृदय में प्रवेश नहीं कर पाता वह जीवन के अनुभव में व्यर्थ सिद्ध होता है।*

संत साहित्य की प्रासंगिकता

डॉ. शगुफ्ता यास्मीन

वर्तमान भोग-उपभोग विश्वासी संस्कृति ने व्यक्ति और समाज दोनों का भरपूर नाश किया है। अत्याधुनिक युग के अनेकों चमकदार पदबंध भूमंडलीकरण संस्थानिक पूंजीवाद, नव उपनिवेशवाद, बाजारवाद अपने वास्तविक रूप में भोग के साधन हैं। ध्यातव्य है कि भोग एक ऐसी निकृष्ट मनोवृत्ति है, जो दूसरों के साथ-साथ 'स्व' को भी दास बनाती है। आज के बेलगाम बाजार ने लोगों के मन में मिथ्या इच्छाओं को उक्सा कर सुख भोगवाद की एक ऐसी आंधी चलाई है जिसमें मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य भोगना और संग्रह करना हो गया है। जिसके परिणामस्वरूप समाज चंद धनाढ्यों एवं अधिसंख्य विपन्नों की श्रेणी में बंट गया है। उनके बीच की दूरी में लगातार इजाफा होता जा रहा है। कभी बाजारू होना अपशब्द माना जाता था और अब बाजारू या बिकाऊ होना युग की मांग बन गया है। समकालीन कहानीकार उदय प्रकाश ने अपनी कहानी 'पालगोमरा का स्कूटर' में 'औरत बिकाऊ और मर्द कमाऊ ' नारे के मार्फत युग की इसी बाजारू तथा व्यावसायिक सभ्यता का सत्यांकन किया है। इस सर्वसुलभ बाजार में कुछ भी खरीदा और बेचा जा सकता है। 'धर्म' भी इस बाजार का तंत्र बन गया है। पेशेवर बाबाओं, ढोंगी, लम्पट, संत-साध्वियों द्वारा एक प्रोडक्ट के तौर पर उसका भी इस्तेमाल किया जा रहा है। मौजूदा समय के उपरोक्त परिदृश्य के बरक्स संत साहित्य की महत्ता स्वयंसिद्ध है। निर्गुण संत साहित्य में धर्म अथवा दर्शन की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं की गई है बल्कि जन-भाषा में उसके मर्म को समझाया गया है, इसलिए उसमें दर्शन की शुष्कता नहीं, बल्कि काव्य की कोमलता है। संत मत का भवन 'कागद लेखी' पर नहीं, 'आँखिन देखी' का संबंध 'अनुभव की प्रामाणिकता' से जोड़ा जा सकता है। अभिव्यक्ति की ईमानदारी तो उसका नित्य लक्षण है ही। संत कबीरदास के सबसे प्राचीनतम मूल्यांकनकर्ता नाभादास ने अपने ग्रन्थ भक्तमाल में लिखा है– *'हिन्दू-तुरुक प्रमान रमैनी सबदी साखी/ पच्छपात नाहिं वचन सबहि के हित की भाखी।'*[1]

धर्म-शास्त्र निरपेक्ष और प्रतिकूल परिस्थितियों में सबके हित की सोचने-बोलने वाले इस मानवतावादी अभियान में कबीर अकेले नहीं थे। उनके साथ रैदास, दादू, धर्मदास, सेना, पीपा, नानक, सधना, दरिया, नामदेव आदि निर्गुण संतों की एक लम्बी एवं सुदृढ़ परम्परा भी सक्रिय थी। इन संत कवियों का समाजवाद 'ग्लोबल गाँव' की भ्रामक अवधारणा के विरुद्ध 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के स्वप्न को संजोता है। ग्लोबल गांव ने निश्चय ही देशों के बीच के फासले को मिटाने का महान और दुर्घट कार्य सम्पन्न किया है, लेकिन उसी अनुपात में मनुष्य को मनुष्य से तथा मानवीय मूल्यों से दूर छिटकाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। ऐसे में संत साहित्य बिना किसी धर्म-सम्प्रदाय का अवलम्बन लिए मनुष्य को उसके सहज रूप एवं सार्वभौम मानवीय

मूल्यों की ओर वापसी की दिशा में महत्वपूर्ण हस्तक्षेप करता है। कविगुरु रवीन्द्रनाथ द्वारा प्रस्तावित विश्व मानवतावाद की संकल्पना भारतीय संस्कृति का अहम हिस्सा है जिसका आदि स्रोत इन मर्मी संतों के अनगढ़ साहित्य में देखा जा सकता है– *'भारत की उदार संस्कृति कबीर, नानक और दादू जैसे संतों में प्रकट हुई है। वही संस्कृति रवीन्द्रनाथ के जागरण का नया आलोक बन गई है।'*[2]

संत कवियों का धर्म बाँटने, अफीम पिलाकर सुलाने अथवा धर्म के नाम पर नृशंस रक्तपात करवाने में कत्तई यकीन नहीं रखता। उनका धर्म तो अपनी मुक्ति से परे पूरे मानव समाज की मुक्ति का पर्याय बन जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है- 'आजकल भाषा की भी बड़ी बुरी दशा है।' यह बात आज सर्वांशतः धर्म पर लागू है। धर्म आज अपने मूल एवं तात्त्विक रूप से सर्वथा विलग बाजार का बंधक बन चुका है। प्रोफेशनल, कामुक, अहंकारी, आत्मप्रशंसक बाबाओं द्वारा सेल्फ ओकुपाइड चैनेल्स पर धर्म का व्यापार धड़ल्ले से चलाया जा रहा है। यह बहुत बड़ी विडम्बना है कि भारत जैसे गरीब और विकासशील देश में करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति इन मठों, आश्रमों, मंदिरों, दरगाहों, डेरों के साथ लगी हुई है। शीत-ताप नियंत्रित कमरों में बैठकर संसार की निःसारता का प्रवचन बाँटने वाले पाखण्डी संत-साध्वी, बाबाओं के पास धन-धान्य, सुख भोगवाद और वैभव-विलास की कोई कमी नहीं है। इन सबके बावजूद ये धर्मात्मा कहे जाते हैं। इनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है कि इनके दरबार में डॉन से लेकर समाज सेवी, अभिनेता से लेकर राजनेता, मंत्री से लेकर संतरी सभी शीश नवाते हैं। कठिन प्रतिस्पर्धा के दौर में भी धर्म एकमात्र ऐसा धंधा बन गया है जो कभी मंदा नहीं पड़ता। सच में विलक्षण है यह धर्म का जादुई तिलस्म जिसमें अंध समर्पण करता भारतीय जनमानस कभी आसाराम, तो कभी राम रहीम और कभी नारायण साईं जैसे जगत -तारक बाबाओं द्वारा छले जाकर भी धर्म के प्रति आस्थावान बना रहता है। अपनी बिजनेस स्ट्रेटजी के तहत योगी का वेषवाना धारण कर कमण्डल के बल पर सीधे-साधे लोगों को भरमाना-भटकाना इन साईं साधु- महात्माओं के बाएँ हाथ का खेल है। 'मन न रंगाये, रंगाये जोगी कपड़ा' कहकर कबीरदास ने ऐसे व्यभिचारी, धर्माडम्बरी, धनलोलुप बाबाओं को निर्वस्त्र कर दिया है। स्मरण रहे कि कर्म मार्ग के संदेशवाहक मध्यकालीन संतों के लिए धर्म और भक्ति 'बैठे ठाले का धंधा' हरगिज नहीं था। उनके लिए यह उनकी कर्मस्थली थी, क्योंकि अधिकांश संत कवियों सधना (कसाई), धना (जाट), दादू (धुनिया), कबीर (जुलाहा), मराठी संत नामदेव (दर्जी), तुकाराम (नीची जाति के व्यापारी), नानक देव (मामूली व्यापारी) इत्यादि ने एक सद्‌गृहस्थ की तरह कड़ी मेहनत-मशक्कत करके अपना जीविकोपार्जन किया। संसार को केवल माया बताकर अपने संत कर्म की इतिश्री नहीं मानी, बल्कि इस विषमतामूलक संसार से लड़ते-भिड़ते उसके तीखे, कड़वे अनुभवों को भी व्यक्तिगत स्तर पर झेला भोगा था। इन गृहस्थ संन्यासियों द्वारा भाग्य के स्थान पर जीवन में पुरुषार्थ, कर्म और संघर्ष को महत्व देना इनके चरित्र को अप्रत्याशित ऊंचाई देता है; जिसके सामने हमारे आज के तथोक्त ज्ञानी-ध्यानी, धर्म व्यापारी बेहद बौने प्रतीत होते हैं। परवर्ती संत कवि 'लालदास' ने 'हक' पर जोर देते हुए कहा है– *'लालजी साधु ऐसा चाहिए, धन कमाकर खाय।/ हिरदे हरि की चाकरी, पर घर कंभूं न जाय।।'*[3]

गृहस्थ में संन्यास, प्रवृत्ति में निवृत्ति, लोक में परलोक, मनुष्य में देवत्व का अद्‌भुत और मणिकांचण संयोग निर्गुण संत साहित्य को एक विशेष कलात्मक औदार्य प्रदान करता है। समसामयिक सामाजार्थिक निहितार्थों के परिप्रेक्ष्य में संत साहित्य की महत्ता पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो जाता है। इस सन्दर्भ में भक्तिकाल के व्याख्याकारों में डॉ. रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, इरफान हबीब इत्यादि आलोचकों के विचार प्रमुख रूप से पठनीय हैं। डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने भक्ति काव्य के लोकवृत्त में राजसत्ता और सामंती व्यवस्था के विरुद्ध निर्गुण संत, जो कि अधिकतर व्यापारी, दस्तकारी और कामगर वर्ग से आते हैं, समतामूलक समाज व्यवस्था की यथार्थवादी पृष्ठभूमि निर्मित करने में उनके अवदान का सफल रेखांकन

किया है। मध्यकालीन साहित्य का विहंगावलोकन यह तथ्य सामने लाता है कि व्यापाराधारित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था, सामंती अर्थव्यवस्था के सम्मुख चुनौतियां खड़ी कर रही थी। सामंतवाद ने मनुष्य के व्यक्तित्व को अनेक बंधनों में जकड़ कर उसके सामूहिक विकास के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया था। समाज में देशी व्यापार का महत्व बढ़ने लगा और इसके साथ ही उससे संलग्न निम्न वर्ग के कामगर लोगों में जातीय चेतना एवं आत्मगौरव का भाव भी जागृत हुआ। इस अर्थ में संत कवि नवीन जातीयता के निर्माता कहे जा सकते हैं। डॉ. प्रकाशचन्द्र गुप्त लिखते हैं– 'भारतीय संत साहित्य हमारी परम्परा की अनुपम और अद्‌भुत निधि है। इस साहित्य में तत्कालीन भारतीय सामाजिक-आर्थिक अंतर्द्वन्द्वों का सम्पूर्ण इतिहास निहित है।'[4]

एक ओर देश जब भीषण आर्थिक मंदी के दौर से गुजर रहा है, दूसरी ओर उदारीकरण के नाम पर मल्टीनेशनल कम्पनियों को सत्ता प्रतिष्ठानों द्वारा अपने यहाँ न्यौता जा रहा है। इन हालातों में भारत के सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य परिवर्तन में स्वदेशी व्यापार की निर्णायक भूमिका हो सकती है, किन्तु दुर्भाग्यवश भारतीय व्यापार और व्यापारी अपने ही देश में लगातार हाशिए पर धकेले जा रहे हैं। आज निरंकुश सत्ता और नव सामंतवाद के विरुद्ध उस जातीय एकता तथा जुझारू रवैये की प्रबल आवश्यकता है, जो कभी इन मध्यकालीन संतों-भक्तों ने अपनायी थी।

यांत्रिक और मशीनी सभ्यता के विकास ने मानवता को सबसे अधिक आक्रान्त किया है। आधुनिक जीवन में व्याप्त निराशा, अवसाद, जड़ता, अकेलापन, संवेदनशून्यता इस सभ्यता के बाइप्रोडक्ट हैं। मशीनी सभ्यता जड़ है एवं मानवीय सभ्यता चेतन। संत परम्परा मानवीय सभ्यता को ऊर्ध्वगामी बनाने वाली परम्परा है। इस सन्दर्भ में मानवता के अन्वेषक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचारों का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा- 'आज मशीन केवल स्थूल रूप में ही हमारी सभ्यता को यन्त्र चालित नहीं बना रही है, हमारे सामाजिक संघटन और बौद्धिक विवेचन भी यांत्रिकता का रूप ग्रहण करते जा रहे हैं। इसका कारण केवल जड़तत्व को प्रधानता देने वाली वृत्ति है। इसलिए सन्तों और भक्तों की वाणी का आज भी उपयोग है। वह मनुष्य पर मशीन के प्रभुत्व का प्रत्याख्यान करती है और इस बात पर जोर देती है कि जड़ोन्मुखी यांत्रिकता नहीं, बल्कि चिन्मुखी मानवता ही बड़ी चीज है।[5] यांत्रिक, भौतिक और मशीनी विकास के दौर में संत साहित्य 'आत्मज्ञान' या आत्मजागरण के शाश्वत तत्वों की पुनः प्रतिष्ठा करता है। सूचना और संचार क्रान्ति के विस्फोट काल में जहाँ व्यक्ति पूरी दुनिया से जुड़ चुका है वहीं अपने 'आत्मज्ञान' से अनभिज्ञ अपने विवेक तक को बाजार के हवाले कर दिया है। डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित के विचारानुसार– 'अंतरात्मा शुद्ध बुद्ध है। उसकी प्रतिक्रिया त्वरित और निश्छल या अनाविल होती है। जो उसकी आवाज को सुन पाते हैं, वे अपने निर्णयों में सत्य की सहज ही रक्षा कर ले जाते हैं। सत्य ही शिव है और सुन्दर भी। संत उसी सत्य और शिव की खोज को ही तात्विक मानते हैं। अतएव आत्मज्ञान पर बल देते हैं।'[6] आत्मज्ञान की जाग्रतावस्था में मनुष्य अपने-पराये के भावबोध से पूर्णतः मुक्त हो समाज के सारे बंधन को तोड़कर सर्वात्मभाव में लीन हो जाता है। वैश्विकता का आग्रह संत कवियों का मूल मन्तव्य है, जिसकी अपरिहार्यता आज के भूमंडलीकृत देशों को सबसे अधिक है।

मध्यकालीन भक्ति आंदोलन की सबसे बड़ी देन है कि इसने लगभग सम्पूर्ण भारत को एक सांस्कृतिक एकता सूत्र में पिरोया। संत-भक्तों ने वाचिक परम्परा में अपने भाव सम्प्रेषण के लिए लोक भाषाओं का बखूबी इस्तेमाल किया। लोक भाषाओं के साथ ही लोक संस्कृति का भी संवहन हुआ, क्योंकि भाषा संस्कृति की संवाहिका होती है। सांस्कृतिक अवमूल्यन की प्रक्रिया में संस्कृति के नाम पर अपसंस्कृति का प्रचार-प्रसार जोरों पर है। भूमंडलीकरण के चक्रवात ने हमारी संस्कृति, भाषा और बोलीबानी को भी निर्वासन के कगार पर ला छोड़ा है। इस हालात के मद्देनजर देश की सांस्कृतिक गरिमा की रक्षा के लिए, संतों की ठेठ, देसी और सहज आत्मविश्वासपूर्ण लहजे की जरूरत है। 'हिन्दी जातीय' अवधारणा के प्रतिष्ठापक डॉ. रामविलास शर्मा

ने अपनी पुस्तक 'भाषा, युगबोध और कविता' में लिखा है– 'आज देश के नये सांस्कृतिक जागरण के लिए हमें ऐसी वाणी, ऐसे अलंकार, ऐसी भाषा और ऐसी चेतना की आवश्यकता है जो एक ही तंत्र में तमाम जनता को बाँध सके। मध्यकालीन हिन्दी कवियों ने विशेष रूप से संत कवियों ने अपनी वाणी द्वारा यह चमत्कार कर दिखाया था।'[7]

कदाचित मानव सभ्यता के विकास के साथ ही बाजार का अस्तित्व प्रचलन में आया होगा, किन्तु तब बाजार मात्र वस्तुओं के क्रय-विक्रय का केन्द्रस्थल न था, उससे बढ़कर भी कुछ था। मानवीय भावों और संबंधों के सम्पर्क सूत्र भी उससे जुड़े हुए थे। बदलते समय के साथ बाजार का पर्याप्त कायाकल्प हुआ है। आज बाजार का एकमात्र धर्म मुनाफा कमाना हो गया है। इसके सामने मानवीय भावनाओं-संवेदनाओं की कोई कीमत नहीं। कीमत तो केवल उसके क्रम क्षमता की है। अतः व्यक्ति की मानसिकता का काबिज होना परम आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बाजार के अपने हथकंडे हैं। एक उंगली के क्लिक मात्र से पूरा विश्व बाजार हमारे घरों में समाने का सामर्थ्य रखता है। संत साहित्य में खासकर कबीर के काव्य में बाजार और व्यापार से संबंधित विविध रूपक हमें देखने को मिलते हैं, जो अभी की पूँजीवादी बाजार व्यवस्था से ज्यादा नहीं तो कम भी नहीं, किन्तु मेल जरूर खाते हैं। अपने समय के बाजारी उत्पात से कबीर भी खासे परेशान थे। बाजार को लूटने की फिराक में घात लगाए 'ठग' तब भी विद्यमान थे आज भी हैं; हाँ, आज इनकी प्रतिष्ठा में बढ़ोत्तरी हो गई है और अब ये टैगधारी हो गए हैं। 'कौन ठगवा नगरिया लूटल हो रामा' अथवा 'यहु ठग ठगत सकल जग डोले' कहकर कबीरदास ने जनता को चैतन्य करते हुए इनकी सारी कलई उतार कर रख दी है। एक पद में संत कबीरदास ने कपटी और धोखेबाज मन को संबोधित करते हुए प्रकारांतर से व्यावसायिक बुद्धि के छल, प्रपंच, कदाचार, षड्यंत्र का हूबहू चित्रण किया है। इस संबोधन में व्यावसायिक मनोवृत्ति की जो छवि उभरती है उसका सफल प्रतिबिम्ब बहुराष्ट्रीय व्यावसायिक इजारेदारों में देखा जा सकता है–

'मन बनिया बनिज न छोड़े।/ जनम जनम का मारा बनिया, अजहूँ पूर न तोले।। पासंग के अधिकारी लैले, भूला-भूला डोलै।/ घर में दुविधा कुमति बनि है, पल-पल में चित तोरै। कुनवा वाके सकल हरामी अमृत में विष घोलै।'[8] लूट की ठगंत विद्या में निष्णात संस्थानिक पूँजीवाद के आकाओं और सौदागरों की इस आक्रामक शैली में ऐसी फजीहत समकालीन कविता में भी इने-गिने कवियों ने ही की होगी। बीच बाजार में एवं बाजारी शक्तियों के बीच खड़े होकर सबके मंगल की साहसी कामना कबीर जैसे विरले और निडर कवि ही कर सकते हैं– *'कबीरा खड़ा बाजार में मांगे सबकी खैर। ना काहू सो दोस्ती ना काहू सो बैर।'*[9]

संत साहित्य अत्याधुनिक परिप्रेक्ष्य में इस मिथक को तोड़ता है कि आधुनिकता अंग्रेजों की देन है। औपनिवेशिक आधुनिकता के आगमन से बहुत पहले ही भारत अपनी परम्परा से उद्भूत' देशज आधुनिकता की ओर सहज गति से बढ़ रहा था। इस परम्परा को आगे बढ़ाने में ही हम अपनी पहचान बना सकते हैं। तात्पर्य यह है कि मध्यकालीन संत-साहित्य भारतीय अस्मिता को पुष्ट धरातल पर स्थापित करता है। संत परम्परा के कवियों का युगीन भावबोध इसी 'देशज आधुनिकता' का परिणाम है और इसको प्रभावित करने वाला कारक भी। अमूमन अपनी आध्यात्मिक और रहस्यवादी प्रवृत्ति के कारण निर्गुण संत कवि मध्यकालीन भावबोध के फ्रेम में जड़ दिये जाते हैं किन्तु सच तो यह है कि उनकी आध्यात्मिकता अपने मूल आशय में मानवीय है और रहस्यवाद वैकल्पिक समाज व्यवस्था का आदर्श प्रतिरूप निर्गुण भक्तों के रहस्यवाद' के सामाजिक आशय को डॉ. नामवर सिंह इस प्रकार शब्दबद्ध करते हैं- 'रहस्यवादी कहे जाने वाले संत वस्तुतः अनुभववादी और विवेकवादी ठहरते हैं। उन्हें ज्ञानी कहने का कारण भी संभवतः यही है। इसी अनुभववाद के अस्त्र से उन्होंने जाति-पाति, छुआछूत और ऊंच-नीच के भेदभाव पर चोट की थी।'[10]

'भूमंडलीकरण' या 'ग्लोबलाइजेशन' अपने ही देश की जमीन पर आंतरिक साम्राज्यवाद और उपनिवेशवादी संरचना को कायम करने का एक अत्यन्त लुभावना

षड्यंत्र है। अपना हित साधने के लिए यह व्यक्ति को उपभोक्ता में तब्दील करता है, किन्तु भारतीय जीवन दर्शन का प्रतिफलन संतों की 'जामे कुटुम्ब समाय' अर्थात् अपरिग्रही वृत्ति में होता है। समसामयिक समय के सार्वकालिक भोगों से विरत संत साहित्य शाश्वत आनंद और समरसता की उच्चतर भावभूमि प्रस्तुत करता है। संत कवियों की प्रखर सामाजिक चेतना और विश्व मानवता बोध गाँधी, अम्बेडकर, राम मोहन राय, विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे महान समाज उन्नायकों के विचारों की आधारशीला बनती है। विशुद्ध राजनीतिक दृष्टि से देखा जाए तो भी संत साहित्य की उपादेयता पूर्वतः बनी हुई है। निर्गुण संतों के धार्मिक-सामाजिक संघर्ष में उठाए गए बहुत से महत्वपूर्ण मुद्दों को भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों के रूप में मान्यता दी गई है। अत्याधुनिक युग की नित नवीन एवं जटिल चुनौतियों के समाधान में संत कवियों की चिन्तन- दृष्टि न केवल हमारा उचित मार्गदर्शन करती है, बल्कि ज्ञान, आस्था और विवेक का संबल भी प्रदान करती है। इतिहास का अंत, विचारधारा का अन्त, मनुष्य की मृत्यु की घोषणा करने वाली 'आइडियोलॉजी' मानव-समाज के विकास का मॉडल कभी नहीं बन सकती। पश्चिम से आयातित ये विचारधाराएँ हमारे मूल्यों एवं मानदंडों की कसौटी कदापि नहीं हो सकतीं। संतों द्वारा प्रचारित-प्रस्तावित कर्त्तव्य, प्रेम, परदुःखकातरता भ्रातृत्व, बन्धुत्व, नैतिकता, सच्चाई, ईमानदारी इत्यादि उदात्त मानवीय मूल्य भावी सेक्युलर और समतामूलक समाज व्यवस्था के निर्माण में अवश्य ही सहायक होंगे, जिसके लिए भारतीय समाज आज भी संघर्षरत है। अतः कहने की आवश्यकता नहीं है कि मौजूदा समय की नितांत विरोधी परिस्थितियों में मानवता की बहाली और उसकी मुक्तिकामी चेतना को बनाए रखने में संत साहित्य की महत्ता युगों-युगों तक अक्षुण्ण बनी रहेगी।

सन्दर्भ :

1. सं., वंशीबलदेव, कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्करण-2011, पृ. 276। **2.** डॉ. शर्मा, रामविलास, भाषा, युगबोध और कविता, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण-1994, पृ. 62। **3.** डॉ. सिंह, बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, दूसरी आवृत्ति-2009, पृ.-99। **4.** सं. वंशीबलदेव, कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्करण-2011, पृ.92। **5.** डॉ. तिवारी, रामचन्द्र, हिन्दी आलोचना शिखरों का साक्षात्कार, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 2000, पृ.81। **6.** डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित, भक्ति चेतना और हिन्दी काव्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (जयपुर) प्रथम संस्करण- 2011, पृ.-53। **7.** डॉ. शर्मा, रामविलास, भाषा, युगबोध और कविता, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण-1994, पृ. 47। **8.** सं. वंशीबलदेव, कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्करण-2011, पृ.187। **9.** डॉ. दीक्षित, आनंद प्रकाश, भक्ति चेतना और हिन्दी काव्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली (जयपुर) प्रथम संस्करण : 2015, पृ.50। **10.** डॉ. सिंह, नामवर, दूसरी परम्परा की खोज, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1982, पृ.-82।

❑❑

अतिथि-प्रवक्ता
पश्चिम बंग राज्य विश्वविद्यालय
बारासात-700126
मो. 7044358724

चिन्ता

- *चिंता एक डायन है जो शरीर को खा जाती है।*
- *चिंता मनुष्य की शक्तियों को शून्य कर देती है इसलिए उससे छुटकारा पा लेना पहला कर्त्तव्य है।*

संत रविदास के साहित्य में सामाजिक चेतना

डॉ. सुमित कुमार मीना

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में भक्ति को कई शाखाओं, उप-शाखाओं में विभाजित किया है। पहले दो धाराएँ हैं- निर्गुण और सगुण काव्य की। फिर निर्गुण धारा की शाखाएँ हैं, ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी। सगुण धारा की दो शाखाएँ हैं– राम भक्ति और कृष्ण भक्ति शाखा। निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा संत कवियों से संबंधित है। संत कवियों में रामानंद, नामदेव, कबीर, रैदास, गुरु नानक, धर्मदास, दादूदयाल, रज्जब, मलूकदास, सुंदरदास, चरनदास, सहजोबाई आदि प्रमुख हैं। अधिकतर संत कवि समाज की नीची समझी जाने वाली जातियों से आए हैं। ये कवि स्वभाव से भ्रमणशील थे, यद्यपि ये मूलतः विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों से आए थे। जिसका प्रमाण उनकी भाषा की मिली-जुली प्रकृति से भी मिलता है। इस काव्यधारा में कई सम्प्रदायों से संबद्ध कवि हैं। वैदिक ऋषियों ने तथा मध्ययुगीन सभी भारतीय संतों ने हाथ के काम को बड़ा महत्व दिया है। इसे सुकिरित, सुकर्म कहा है। इस कर्म को ही धर्म माना है। इसी के द्वारा मनुष्य भवसागर को पार कर सकता है, मुक्ति पा सकता है। संत रविदास कहते हैं–

'रविदास हौ निज हत्यहि, राखौ राबी आर।
सुकिरित ही मम धर्म है, तारेगा भव पार।'

भारत की मध्ययुगीन संत परम्परा में रविदास कहें या रैदास, इनका महत्वपूर्ण स्थान है। भक्तिकाल के इस महान संत को बड़े सम्मान और आदर के साथ याद किया जाता है, क्योंकि कबीर के समान इन्होंने भी समाज में फैलीं बुराइयों को मिटाने में बहुत योगदान दिया है। प्राचीनकाल से ही भारत में विभिन्न धर्मों तथा मतों के अनुयायी हुए हैं। मेल-जोल और भाईचारा बढ़ाने के लिए सन्तों ने समय-समय पर अपना महत्वपूर्ण योगदान इनमें दिया है, जिसमें संत रैदास का नाम अग्रणी है। रैदास संत कबीर के गुरु भाई थे, क्योंकि उनके गुरु स्वामी रामानन्द थे। इनकी रचनाओं की विशेषता लोक-वाणी का अद्‌भुत प्रयोग रही है, जिससे जनमानस पर इनका अमिट प्रभाव पड़ता है।

विद्वानों के अनुसार इनका जन्म 25 फरवरी 1433 यानी 1376 ई. में माघ पूर्णिमा के दिन रविवार को बनारस के पास सीरगोवर्धनपुर या मांडूर्गढ़ नामक स्थान पर हुआ था। कुछ विद्वान 1398 में इनका जन्म बताते हैं। रविवार को जन्म होने के कारण इनका नाम रविदास रखा गया था। इनके पिता संतोख दास (रघुराम) और माता करमा देवी थी। रैदास बचपन से दयालु, परोपकारी थे और साधु-संतों के साथ सत्संग किया करते थे जिससे उनके माता-पिता उनसे अप्रसन्न रहते थे। कुछ समय बाद उन्होंने रैदास तथा उनकी पत्नी को अपने घर से अलग कर दिया। रैदास पड़ोस में ही अपने लिए एक अलग झोपड़ी बनाकर तत्परता से अपने व्यवसाय

का काम करते थे। वे शेष समय ईश्वर-भजन तथा साधु-सन्तों के सत्संग में व्यतीत करते थे। उनकी समयानुपालन की प्रवृत्ति तथा मधुर व्यवहार के कारण उनके सम्पर्क में आने वाले लोग भी बहुत प्रसन्न रहते थे। भक्तिकाल के युग में कई महान कवि हुए जिन्होंने भारतीय समाज की कुरीतियों को समाप्त करने का बड़ा प्रयास किया। उनमें से संत रविदास का अपना एक अलग स्थान भारतीय इतिहास में है। यह कहा जाता है कि रैदास अनपढ़ थे, किंतु संत साहित्य के ग्रंथों और गुरुग्रंथ साहिब में इनके पद पाए जाते हैं। वे स्वयं मधुर तथा भक्तिपूर्ण भजनों की रचना करते थे, जिन्हें लोग भाव-विभोर होकर सुनाते थे। गुरु ग्रंथ साहिब में उनके कुल 40 पद या शबद दर्ज हैं, जो राग (संगीतिक पैमानों) के आधार पर वर्गीकृत किए गए हैं। संत रविदास के ये शबद प्रमुख रूप से निम्नलिखित रागों में पाए जाते हैं: 1. राग श्री 2. राग गोंड 3. राग मारू 4. राग सोरठ 5. राग बिलावल। इन पदों में सामाजिक समानता, ईश्वर भक्ति और जातिवाद के विरोध का स्पष्ट संदेश मिलता है। उन्होंने भक्ति मार्ग से मानवता की सेवा और परोपकार की भावना को व्यक्त किया है।

संत रैदास ने अपने काव्य रचनाओं में सरल और व्यावहारिक भाषाओं का प्रयोग किया। उन्हें मूर्ति पूजा और तीर्थ जैसे दिखावों में कोई विश्वास नहीं था। उन्होंने परस्पर मिलजुलकर प्रेम से रहने के लिए उपदेश दिए थे। अनपढ़ होने के बावजूद उन्होंने मधुर तथा भक्तिपूर्ण भजनों की रचना की और कहा कि परमेश्वर एक है, नाम अनेक हैं। रैदास की वाणी से सुनने वालों पर गहरा प्रभाव पड़ता था। उनका विश्वास था कि राम, कृष्ण, करीम, राघव आदि सब एक ही परमेश्वर के विविध नाम हैं। वेद, कुरान, पुराण आदि ग्रन्थों में एक ही परमेश्वर का गुणगान किया गया है। उनके विचारों का आशय यही है कि ईश्वर की भक्ति बड़े भाग्य से प्राप्त होती है। अभिमान शून्य रहकर काम करने वाला व्यक्ति जीवन में सफल रहता है जैसे कि विशालकाय हाथी शक्कर के कणों को चुनने में असमर्थ रहता है, जबकि लघु शरीर की 'पिपीलिका' इन कणों को सरलतापूर्वक चुन लेती है। इसी प्रकार अभिमान तथा बड़प्पन का भाव त्याग कर विनम्रतापूर्वक आचरण करने वाला मनुष्य ही ईश्वर का भक्त हो सकता है।

एक बार एक पर्व के अवसर पर पड़ोस के लोग गंगा-स्नान के लिए जा रहे थे। रैदास के शिष्यों में से एक ने उनसे भी चलने का आग्रह किया तो वे बोले, गंगा-स्नान के लिए मैं अवश्य चलता, किन्तु एक व्यक्ति को जूते बनाकर आज ही देने का मैंने वचन दे रखा है। यदि मैं उसे आज जूते नहीं दे सका तो वचन भंग होगा। गंगा-स्नान के लिए जाने पर मन यहाँ लगा रहेगा तो पुण्य कैसे प्राप्त होगा? मन जो काम करने के लिए अन्तःकरण से तैयार हो वही काम करना उचित है। मन सही है तो इसे कठौते के जल में ही गंगा स्नान का पुण्य प्राप्त हो सकता है। कहा जाता है कि इस प्रकार के व्यवहार के बाद से ही कहावत प्रचलित हो गयी कि मन चंगा तो कठौती में गंगा। रैदास ने ऊंच-नीच की भावना तथा ईश्वर-भक्ति के नाम पर किये जाने वाले विवाद को सारहीन तथा निरर्थक बताया और सबको परस्पर मिलजुल कर प्रेमपूर्वक रहने का उपदेश दिया। संत रैदास ने कहा था कि मनुष्य अपने जन्म तथा व्यवसाय के आधार पर महान नहीं होता है, उसमें सामाजिक हित, सदव्यवहार और परोपकार जैसे गुण भी विद्यमान होने चाहिये। इसीलिये उन्होंने कहा कि 'जात-पांत में जात है, जो केलन की पात, रविदास न मानुष जुड़ सकैं, जो लौ जात न जात।' वर्णवाद पर भी बोले कि 'जात-पांत के फेर महि, उरझि रहइ सब लोग, मानुषता कूं खात हई, रैदास जात कर रोग।' अर्थात जात-पांत के चक्कर में सारा समाज ही जटिल हो चुका है, पूरे लोग जाति के जाल में उलझे हुए हैं और उन्होंने अपनी सोच संकीर्ण बना रखी है, जिससे मानवता की कोई जगह नहीं बची। इस जाति रूपी रोग ने मनुष्यता को नष्ट कर डाला है।

संत रविदास के भक्ति गीतों एवं दोहों ने भारत के समाज में प्रेमभाव और एकरूपता उत्पन्न करने का भरसक प्रयास किया, जिससे हिन्दू और मुसलमान सौहार्द एवं सहिष्णुतापूर्वक रह सकें। इसीलिए उन्होंने गुणगान किया कि 'कृस्न, करीम, राम, हरि, राघव, जब लग एक न पेखा, वेद कतेब कुरान, पुरानन, सहज एक नहिं

देखा।' गुरु रविदास का सम्मान राजघराने तक में होने लगा था, लेकिन उनमें जरा भी घमंड नहीं आया। संतों में शिरोमणि का स्थान प्राप्त हो जाने पर कभी भी उन्होंने अपनी जाति को नहीं छिपाया। वह हमेशा कहते थे– 'जाके कुटुम्ब सब ढोर ढोवत, फिरहि अजहुँ बनारसी आसपासा। उनका कहना था कि कोई व्यक्ति अपनी जाति से नहीं, बल्कि अपने कर्म से महान बनता है। इसी तरह ईश्वर भक्ति और वेदों के पठन-पाठन पर समस्त मानव जाति का अधिकार है, यह किसी एक वर्ग की बपौती नहीं है। इसी को लेकर उन्होंने आजीवन संघर्ष किया। आज भी सन्त रैदास के उपदेश समाज के कल्याण तथा उत्थान के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने आचरण तथा व्यवहार से यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य अपने जन्म तथा व्यवसाय के आधार पर महान नहीं होता है। विचारों की श्रेष्ठता, समाज के हित की भावना से प्रेरित कार्य तथा सद्व्यवहार जैसे गुण ही मनुष्य को महान बनाने में सहायक होते हैं। इन्हीं गुणों के कारण संत रैदास को अपने समय के समाज में अत्यधिक सम्मान मिला और इसी कारण आज भी लोग इन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। 'ऐसी मेरी जाति बिख्यात चमारं ! हिरदै राम गोब्यंद गुन सारं, जातिभी ओछी करम भी ओछा, ओछाकि सब हमारा, नीचसै प्रभु ऊच कियो है, कह रैदासचमारा।'[2]

दूसरों को उपदेश देना ही नहीं स्वयं भी उस शिक्षा पर अमल करना, श्रम साधना को धर्म का दर्जा देना रविदास जी की विशेषता रही है। हाथों को जोड़कर भगवान से बंदगी करने से परमार्थ सेवा करना, हाथों से दूसरों की भलाई के कार्य करने को रविदास सच्चा धर्मकार्य कहते हैं। स्वयं भी चर्मकार के काम में आने वाली रांपी और आल के द्वारा श्रम करने के माहात्म्य को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि यही सुकिरित है अर्थात् सुकृत्य एवं सुकर्म भी यही है। यही संसार रूपी सागर से पार उतारने वाला कार्य है। तत्कालीन समाज की जाति-पाति ग्रस्त, साम्प्रदायिकता-विदीर्ण, निर्मम एवं अपमानजनक छुआछूत की भावना वाली रीतियों का प्रतिवाद किया है। संत रविदास को संत कबीर ने संतों में श्रेष्ठ संत कहा है। आयु में रविदास संत कबीर से बड़े थे, किंतु कबीर ने उन्हें निर्गुण भक्तिकी ओर लगाया इस कारण वह कबीर को अपने से बड़ा होने का सम्मान देते हैं। संत रविदास ने स्वामी रामानंद को अपना गुरु माना। वेद गान से वंचित निम्न जाति में जन्म लेने पर भी स्वामी रामानंद के विचारों को प्रचारित करते हुए संत रविदास कहते हैं, जाति जन्म से नहीं, व्यक्ति के कर्म से निर्धारित की जानी चाहिए, क्योंकि यही वेद का अर्थ व धर्म है–

'जन्म जात कू छांडी करि, करनी जात परधान।
इह्यौ वेद कौ धरम है, करै रविदास बखान।'[3]

वेद की उक्त अवधारणा को प्रचारित करने के आधार पर काशी के ब्राह्मण उनसे नाराज हो गये कि रविदास जी कुल में जन्म लेने के कारण ब्राह्मण कहलाने के अधिकार को चुनौती दे रहे हैं और शूद्रों को धर्म, कर्म तथा धार्मिक आचरण करने के कारण ब्राह्मणतुल्य घोषित कर रहे हैं–

'रविदास जन्म के कारनै, होत न कोउ नीच।
नर कूं नीच करि डारि है, ओछे करम की कीच।[4]

सभी संत हाथ के काम को भक्ति और ज्ञान से कम महत्व नहीं देते। रविदास भी अपने पुश्तैनी कार्य चर्मकार के काम को धर्म तुल्य मानते और उसी में मुक्ति की कामना करते हैं–

'रविदास निज हत्थाहि राखौ रांबी आर।
सुकिरित ही मम धरम है, तरैगा भवपार।'[5]

रविदास श्रम को ही ईश्वर मानकर दिन रात पूजने को कहते हैं। इस संसार में सदा ही सुख-चैन की प्राप्ति की जा सकती है। वही रविदास की पाठशाला है। श्रम साधना के माध्यम से चिंतन, मनन, ध्यान और सत्संग की सीख देते हैं, रविदास। श्रम द्वारा अर्जित धन ही नेक कमाई है, संत रविदास ने कर्म के साथ-साथ गुरु महिमा, कर्म निष्ठा, सामाजिक विषमताओं में भावनात्मक समानता, पवित्रता, शील, चरित्र, लज्जा, मर्यादा, लोक भलाई आदि का महत्व स्थापित किया है। संत रविदास की वाणी दमन और शोषण के खिलाफ एक ऐसी प्रतिक्रिया है जो मन में उत्तेजना, उद्वेग और अलगाव के स्थान पर समानता का मानवीय संदेश देती है। उन्होंने पहले संघर्ष किया, फिर एकता की आवाज उठाई। वे

जानते थे कि जाति, वर्ण और वर्ग सम्बन्धी सभी मतभेदों को समाप्त कर ही एकता स्थापित की जा सकती है। उन्होंने इस प्रकार से मानवीय हित को अपनी वाणी का मूलाधार बनाया है। जाति-पाति की दृष्टि से मनुष्य को घृणा से देखने के व्यवहार को रविदास ने मानवीय हितों के विपरीत समझा है। भारत का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जाति-पाति के कारण हमारा समाज खंड-खंड हो गया था। इस प्रकार से उन्होंने एकता लाने के लिए मनुष्य को जात-पात के विभेदों से ऊपर उठने की प्रेरणा दी। वह सामाजिक दुर्गति से प्रभावित हुये बिना नहीं रहे। उन्होंने पथभ्रष्ट मानव को सही दिशा देने का प्रयास किया। विश्वास कल्याण हेतु विश्व बंधुत्व की भावना का प्रसार करना तथा क्षमा, त्याग, दया आदि मानवोचित गुणों का आधार तैयार करने का अथक प्रयास किया। रविदासयुगीन समाज में चमार, जुलाहा, नाई और कसाई आदि जातियों को हेय व अछूत समझा जाता था। वर्ग भेद और जाति भेद का घुन समाज को अंदर ही अंदर चाट रहा था। वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध समय-समय पर बहुत से आंदोलन हुए, परंतु आज तक इसमें कोई परिवर्तन नहीं आया। कभी-कभी इस व्यवस्था के विरुद्ध अभियान चलाने वालो को ऊंचा पद मिल गया, परंतु साधारण जनता उसी प्रकार दासता का बोझ उठाती रही है। उक्त सभी सरोकारों से उपर उठने के लिए रविदास ने भगवान के प्रति प्रेम करने का आह्वान करते हुए कहते हैं–

'जउ तुम गिरिवर तउ हम मोरा।
जउ तुम चंद तउ हम भए हैं चकोरा।'[6]

रविदास की वाणी में लोकतत्व का प्रमुख आधार है स्वन्य समाज। समाज का दायरा बहुत व्यापक होता है। उनमें विभिन्न धर्मों के लोग इकट्ठे रहते हैं, जिनमें मतमतांतर, जाति-पाति, धर्मगत भेदों के अतिरिक्त, रीति-रिवाज, अनुष्ठान, खान-पान, आचार-व्यवहार संबंधी भिन्नता रहती है। रविदास की वाणी में सामाजिक बुराइयों से जुड़े कितने ही लोकतत्व युक्त उदाहरण सुलभ हो जाते हैं। मांसाहार और मदिरापान के गर्हित रूप को वे भक्ति सुधा के समक्ष रखकर एक बड़े सत्य की ओर संकेत करते हुए कहते हैं–

'रविदास मदुरा का पीजिये, जो चढ़े उतराय।
नांव महारस पीजिये जौ चढ़ै नाहि उतराय।'[7]

अपने समकालीन समाज में प्रचलित जाति भेद के मिथ्यातत्व को मिटाने की दृष्टि से रविदास जैसे संतों ने लोक सत्य और मानवीय सत्य को एक-दूसरे के आमने-सामने खड़ा करके गहन चिंतनीय तर्क प्रस्तुत किए हैं, जिनकी प्रासंगिकता आज भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। आज देश के आध्यात्मिक धरातल पर हम देखते हैं कि विभिन्न धर्मों को मानने वाले अपने-अपने इष्ट देव को लेकर या इष्ट देवताओं को लेकर झगड़ते हैं। इससे समाज में अव्यवस्था और अशांति बढ़ती है। रविदास जी ने विभिन्न मजहबी, वर्गों, जातियों में एकता और समता लाने हेतु परम तत्व पर बल दिया। उनके अनुसार परम तत्व मात्र एक है। इस संदर्भ में रविदास जी की वाणी में कहा गया है–

आदिहु एक अंत पुनिसोई, मधि उपाधिरु कैसे।
अहे येक, पै भ्रमरु दूजौ कनक अलंकृत जैसे।[8]

रविदास की वाणी में प्राप्त प्रगतिशीलता के स्वर ने आधुनिक कवियों और साहित्यकारों को अत्यधिक प्रभावित किया है। इन्होंने पुरोहित वर्ग और प्राचीन अंधविश्वासों, पुरातन रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों के विरुद्ध जो आवाज बुलंद की थी। उसकी प्रतिध्वनि आज प्रबुद्ध साहित्यकारों में परिलक्षित होती है। गुरु रविदास जीवन युक्ति बताते समय जब कट्टरवाद को अस्वीकारते हैं तो केवल अपनी प्रेम भावना वाली युक्ति को ही प्रचलित रखते हैं। ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि उन्होंने जीवन युक्ति बताते समय उस श्रेणी के प्रति एक भी कड़वा वचन प्रयोग नहीं किया, जिसकी संकीर्ण अभिलाषा के कारण, उनका संबंधित वर्ग, जन साधारण, दिन-रात संताप की अग्नि में जलकर नर्कमय जीवन भोग रहा था। आपकी वाणी में कोई भी ऐसी अभिलाषा प्रकट नहीं की गई है, जिससे घृणा का भाव पैदा हो और लड़ाई-झगड़े के कारण धर्म रुपी चादर का रंग लाल हो जाए। बल्कि आपकी वाणी में प्रत्येक वर्ग के लिए नम्रता निरंतर रहती है।

सामाजिक क्षेत्र में आज भी भारत के प्रत्येक समाज में पतनोन्मुखता दृष्टिगोचर होती है। भले ही भारतीय

संविधान में समानता हेतु अनेक प्रावधान किए गए हैं, परंतु वस्तुस्थिति यह है कि उच्च वर्ग का व्यक्ति निम्न वर्ग के व्यक्ति को न केवल अपमानित करता है, बल्कि उसे मानसिक तौर पर भी उपेक्षित करता है। आज भारतीय समाज जातिप्रथा और उँच नीच की भावना के कारण कमजोर हो रहा है, आज भी शोषित वर्ग समाज में रहते हुए अपने आपको असुरक्षित अनुभव करता है, उसे समुचित सम्मान नहीं मिल रहा है। संतों ने भारतीय समाज की नई अवधारणा प्रस्तुत की थी। निर्गुण संत मौलिक चिंतक थे। उन्होंने बड़े संयम और आत्मानुभव की तुलना पर ही अपने युग की परम्पराओं, विश्वासों, रीति-रिवाजों को देखा-परखा और तर्क-वितर्क के निष्कर्ष पर जाँचा-परखा और उसके पश्चात् जो विचार उपयोगी और खरे अनुभव किए, केवल उन्हीं विचारों का प्रचार-प्रसार किया।

संदर्भ सूची

1. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डॉ. रामकुमार वर्मा, पृ.सं.–215। **2.** हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास– डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं.-54 (6)।

3. हमारे प्रिय संत डॉ. बलदेव वंशी, पृ.सं.- 22, 23, 24। **4.** वही, पृ.सं.102। **5.** वही, पृ.सं. 104। **6.** वही, पृ.सं. 123। **7.** वही, पृ.सं. 124। **8.** वही, पृ.सं. 160।

❒❒

सहायक आचार्य,
लक्ष्मीबाई कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
E-mail: sumitmeena1990@gmail.com
मो. 9929362008

स्वास्थ्य

- शरीर में ही सब कुछ है। जो इसमें नहीं है, वह जगत में भी नहीं है।
- असल में शरीर जगत का एक छोटा-सा नमूना है।
- शरीर का निरोग और दीर्घायु होना विषय-रहित होने का परिणाम है।
- स्वस्थ वही है जो बिना थकान के दिन-भर काफी शारीरिक और मानसिक मेहनत कर सके।
- शरीर के स्वस्थ होने का यह मतलब है कि मनुष्य की इंद्रियां और मन भी स्वस्थ हों।
- स्वास्थ्य ठीक रखना हो तो नियमित और सादा आहार करें और नशीली चीजों से परहेज करें।
- स्वास्थ्य अच्छा रखने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन बहुत ही जरूरी है।
- तन्दुरुस्ती ठीक न हुई तो दुनियां के सारे सुख हेय हैं, पहला सुख निरोगी काया।
- बीमारी तो मनुष्य के लिए शर्म की बात होनी चाहिए।
- यदि तन और मन दोनों स्वस्थ हों तभी मनुष्य स्वस्थ कहा जा सकता है।

12वीं शताब्दी की विलक्षण सामाजिक क्रांति : वीर शैवमत परम्परा और अक्कमहादेवी

डॉ. कमल कुमार

वीरशैव आंदोलन को सुधारवादी आंदोलन माना जाता है, यह एक व्यवस्था विरोधी आंदोलन था। यह न केवल ब्राह्मणवादी धर्म की अवहेलना करता है बल्कि इसने जैन धर्म का भी उग्र विरोध किया। यह वह दौर था जब धर्म के मकड़जाल से जनता त्रस्त थी। 12वीं शताब्दी के कर्नाटक में जैन शासकों एवं धर्माचार्यों का प्रभुत्व तोड़कर इस संप्रदाय ने जैन धर्म के अनुयायियों को वीर शैव संप्रदाय के तार्किक एवं समाज सुधारक रूप से जोड़ने का महत्वपूर्ण काम किया। उन्होंने समाज में फैले हुए विविध धार्मिक रूढ़ियों के मायाजाल को तोड़कर एक सहज एवं सरल धर्म की अवधारणा के द्वारा बहुत ही जल्द समूचे कर्नाटक के ऊपर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। शैवमत के ही एक रूप को इसने शिव के निराकार एवं समावेशी स्वरूप को केंद्र में रखकर इसके विस्तार की पृष्ठभूमि की संरचना की। इस संप्रदाय का पूर्व में या अन्य धार्मिक ग्रंथों में उल्लेख बहुत ही कम मिलता है। उन्होंने प्राचीन मूल्य एवं परंपराओं का कड़ा विरोध करते हुए नए रास्तों का उद्‌घाटन किया जो हिंदू धर्म में व्याप्त बहुदेववाद, धार्मिक अनुष्ठान, मंदिरों में प्रार्थना, जातिवाद, तीर्थ यात्राएं जैसी अनेक पारम्परिक रीतियों को सिरे से खारिज करके एक सुगम परंपरा की ओर लोगों को जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

वीरशैववाद सहमति का धर्म था एवं व्यवस्था विरोधी आंदोलन प्रतीक के रूप में अपनी पहचान बनाता है। इस समुदाय ने मध्यकालीन भारत के वैचारिक परिवर्तन की शृंखला में अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। 12वीं शताब्दी का वीरशैव आंदोलन एक सशक्त और विलक्षण सामाजिक आर्थिक क्रांति लेकर आया। वीरशैव आंदोलन ने मनुष्यता, अहिंसा, करुणा और समानता के सिद्धांतों पर आधारित समाज रचना का स्वप्न ही नहीं देखा, बल्कि उसे पूरा भी किया। यह आंदोलन सामाजिक परिवर्तन की नवोन्मेषी अवधारणाओं पर खड़ा हुआ था, जिसमें संस्कृति और परंपरा के नाम पर प्रचलित समूची भ्रांतियां और आस्था और जनता को खारिज कर दिया और श्रम, स्वतंत्रता और समाजवाद के सिद्धांतों के आधार पर वर्णाश्रम मुक्त जाति और भेद विहीन नई समाज रचना प्रस्तावित की गयी। वीरशैवों ने एक ऐसे विश्व धर्म की संकल्पना की जिसके केंद्र में मनुष्यता है। चौदहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध बंगला कवि चंडीदास भी कहते हैं– 'सुनो रे मानुष भाई/सबार उपरे मानुष सत्य/ताहार उपरे नाई।' अर्थात हे मनुष्य भाई, सबसे ऊपर मनुष्य सत्य है, इस सत्य से परे कोई नहीं।

वीरशैवों ने सामाजिक गैर बराबरी और बौद्धिक श्रेष्ठता को अस्वीकार कर दिया। उनका मानना था कि सभी जन्म से बराबर है, भेदभाव का कोई औचित्य नहीं, कोई आधार नहीं, स्त्री स्वतंत्रता और दलित चेतना के प्रारंभिक बीज भी इस आंदोलन के गर्भ में दिखाई पड़ते हैं।

दलितों, शूद्रों और अछूतों को भी सामाजिक-आध्यात्मिक जीवन के सभी अधिकार देकर मंदिर और मठों के वर्चस्व एवं अधिनायकवाद को जड़ से खत्म कर दिया। यह धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक बराबरी का ऐसा आंदोलन था जिसने तत्कालीन समाज से सदियों पुराने ब्राह्मणधर्म के वर्चस्व को मिटा दिया। वीरशैव आंदोलन के कारण सामाजिक परिवर्तन का जो नया उजाला आया, उससे स्त्रियों, शूद्रों के जीवन में बदलाव आया, मानवता विजयी हुई, आम जन की भाषा को महत्व मिला, समाज में सम्यक जीवन का अनुशासन पैदा हुआ। कवि आलोचक सुभाष राय ने वीरशैवों के श्रम सिद्धांत की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है– 'वीरशैव एक श्रमशील समतावादी समाज चाहते थे, जिसमें अपने पेशे के कारण किसी का आदर-निरादर न हो, जिसमें कोई दूसरों की सम्पत्ति पर लालच की नजर न रखे, जिसमें स्वार्थ से ज्यादा महत्त्व परार्थ का हो, निजता से ज्यादा महत्त्व 'अन्यता' का हो, जिसमें 'मैं' का नहीं 'हम' का भाव हो, सब एक-दूसरे की जरूरतों का ख्र्याल रखें। एक ऐसा समाज, जिसमें जरूरत से जो भी अधिक हो, उस पर सबका अधिकार हो। यह कहना गलत नहीं होगा कि यह 12वीं सदी की एक ऐसी आधुनिक संकल्पना थी जो आज भी एक यूटोपिया बनी हुई।

वीरशैव सम्प्रदाय का जन्म कब हुआ और उसके जन्मदाता कौन थे, इस सम्बन्ध में विद्वानों के मतों और साक्ष्यों को लेकर मतभेद है। साधारण तौर पर यह समझा जाता है कि कल्याण के कलचुरि वंश के राजा बिज्जल (सन् 1162-1167) के प्रधान मंत्री तथा सेनापति बसव अथवा बसवण्ण ने वीरशैव मत चलाया। आधुनिक दृष्टि से जिन लोगों ने इस सम्प्रदाय के इतिहास की छानबीन की है, उन इतिहासकारों और विद्वानों का कहना है कि यह एक अति प्राचीन सम्प्रदाय है एवं बसव के पहले से ही किसी रूप में कर्नाटक में विद्यमान था, बसवेश्वर ने उसको पुनर्जीवित किया। इस वीरशैव संप्रदाय को लेकर प्रामाणिक शोध करने वाले डॉ. नन्दीमठ ने कई प्रमुख विद्वानों के मतों का संग्रह करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कर्नाटक में अति प्राचीन काल से प्रचलित शैवमत का ही यह एक परिष्कृत रूप है। इसका परिष्करण बारहवीं शताब्दी में बसव, अल्लमप्रभु प्रभृतियों जैसे विद्वानों द्वारा हुआ। इससे यह सिद्ध होता है कि वीरशैव सम्प्रदाय कोई नया मत नहीं है। बारहवीं शताब्दी के पहले ही कर्नाटक में शैवमत कई रूपों में प्रचलित था। तमिलनाडु का शैवसिद्धान्त जो काश्मीर के शैवमत तथा गौड़ीय शैवमतों से प्रभावित था, कर्नाटक में प्रवेश कर चुका था। इसके अतिरिक्त शाक्तमत, वामपन्थ, कापालिक, कालामुख जैसे शैवमत की शाखाओं का भी कर्नाटक में प्रचार हो गया था। कालामुख मत के गुरुओं का कर्नाटक के राजाओं पर विशेष प्रभाव था। कई शिलालेखों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि बसव के परवर्ती काल में वीरशैव मत का इतना प्राबल्य हो गया था कि बड़े-बड़े कालामुख मठ वीरशैव मठों के रूप में परिवर्तित हुए।

'वीरशैव' शब्द से यही प्रतीत होता है कि शैवमत का ही यह एक परिवर्तित रूप है। यह माना जाता है कि बसव ने बड़ी बुद्धिमत्ता एवं वीरता के साथ शैव मत में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का उद्योग किया। इसलिए इस परिवर्तित मत का नाम 'वीरशैव' पड़ा। वीरशैव सम्प्रदाय 'लिंगायत' अथवा 'लिगवन्त' भी कहलाता है, क्योंकि इस सम्प्रदाय की व्यवस्था के अनुसार वीरशैव अपने वक्ष पर शिवलिंग को धारण करते हैं।

वीरशैव मत की स्थापना के सम्बन्ध में विचारक फर्कुहर यह मानते हैं कि सम्भवतः कर्नाटक में बढ़ते हुए दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का प्रभाव कम करके लोगों को शिव-भक्ति की तरफ आकृष्ट करने के लिए वीरशैव मत की स्थापना हुई। वीरशैव मतावलम्बियों में सामाजिक और धार्मिक जीवन में समानता तथा मठों की स्थापना पर विशेष जोर दिया जाता है।

शिवानुभव-मंटप– वीरशैवमत की स्थापना किसी ग्रन्थ में प्रतिपादित तत्त्वों की अपेक्षा उस मत के प्रमुख भक्तों के अनुभव के आधार पर ही अवलम्बित थी। बसव के समय में कल्याण में 'शिवानुभवमंटप' अथवा 'अनुभवमण्डप' नामक एक गोष्ठी की स्थापना हुई जिसमें वीरशैव भक्त समय-समय पर मिल कर सामाजिक समस्याओं पर विचार विनिमय किया करते

थे। आध्यात्मिक सदस्य थे अल्लमप्रभु, बसव, चेन्नबसव, सिद्धराम और अक्कमहादेवी। कहा जाता है कि अल्लमप्रभु इस अनुभव मण्डप के अध्यक्ष थे। इस मण्डप के सदस्य 'शिवशरण' कहलाते थे और उनमें किसी प्रकार का जातिगत या वर्णगत भेदभाव नहीं था। शिवानुभवमण्डप में मथित विचार आगे चलकर वीरशैव मत को रूप देने में सहायक सिद्ध हुए। अथवा यों कहना चाहिए कि शिवानुभव मंटप की चर्चा का परिणाम ही वीरशैव मत की स्थापना है। बसवन्ना ने ही प्रश्न और संवाद की परम्परा का प्रचार-प्रसार किया साथ ही देश के पहले लोकतान्त्रिक धार्मिक संसद को भी सृजित करने का महनीय कार्य किया। इस मण्टप में सम्मिलित शिवशरणों या शिवभक्तों के अनुभव का सार ही कन्नड़ का 'वचनसाहित्य' है।

वचन साहित्य और वचनकार– वीरशैव भक्तों ने, जिनको शिवशरण कहते हैं, अपने अनुभव की बातें सीधी और सरल भाषा में सुनायी है। ये वाणियाँ कन्नड़ में 'वचन' कहलाती हैं। ये वचन एक प्रकार के गद्यगीत हैं। यद्यपि इन वचनों में किसी छंद का अनुकरण नहीं किया गया है फिर भी इनमें एक विशेष प्रकार का प्रवाह, लय और अनुप्रास विद्यमान है। शिवशरणों ने विभिन्न प्रसंगों में अपने अनुभव की कसौटी पर कसकर अपनी आत्मानुभूति को प्रसादपूर्ण और प्रासयुक्त सरल कन्नड़ में अभिव्यक्त किया है। यही आत्मवाणी वचन साहित्य के रूप में कन्नड़ साहित्य की अमर निधि बनी है। प्रत्येक वचन अपने में सम्पूर्ण है। वचन का आकार भी एक-सा नहीं है। यदि कोई वचन सात-आठ वाक्यों में समाप्त हो जाता है तो कोई-कोई वचन दो पृष्ठों तक चलता है। लेकिन ऐसे लम्बे वचन बहुत कम हैं। कुछ वचन आकार में छोटे होते हुए भी अर्थ में बड़े ही गम्भीर और गहन हैं। ऐसे भी कुछ वचन मिलते हैं जो सूत्र की तरह बड़े जटिल और गूढ़ अर्थ के द्योतक हैं। प्रत्येक वचन के अन्त में रचयिता का कोई संकेत नाम रहता है– जैसे बसव के वचन के अन्त में 'कूडलसंगमदेव', अल्लम के वचन के अन्त में 'गुहेश्वरा' और अक्कमहादेवी के वचन के अन्त में 'चेन्नमल्लिकार्जुन'। ये संकेत नाम शिवशरणों के उपास्य देव शिव के प्रति लक्ष्य करके कहे गए हैं। यदि किसी वचन में अपने प्रति संबोधन है तो किसी में मन के प्रति और किसी में अन्य शरणों के प्रति है। इन वचनों में अभिव्यक्त विचार मानव जीवन की आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक तथा नैतिक समस्यायों से सम्बन्ध रखते हैं। कन्नड़ में यह वचन साहित्य 'वचन शास्त्र' के नाम से भी प्रसिद्ध है, क्योंकि बहुत से वचनों में वीरशैव सम्प्रदाय के तत्त्वों का प्रतिपादन भी बड़े विस्तार के साथ किया गया है।

इन वचनों की और एक विशेषता यह है कि वचनों के निर्माण के साथ-साथ कन्नड़ भाषा और साहित्य के क्षेत्र में एक नूतन क्रांति उपस्थित हुई। अब तक कन्नड़ में जितने ग्रन्थ लिखे गए थे उनमें भाषा और वस्तु विधान दृष्टि से पूर्ववर्ती संस्कृत तथा प्राकृत ग्रंथों का अन्धानुकरण किया गया था। भाषा संस्कृतनिष्ठ होने के कारण बोझिल-सी हो गयी थी। संस्कृत की रचना शैली भी साधारण जनता के लिए बोधगम्य नहीं थी। ऐसे समय में वचनकारों ने पुरानी परिपाटी को तोड़कर बड़े ही साहस के साथ बोलचाल की भाषा में अपने विचार व्यक्त किए। अब तक समाज की उच्च श्रेणी के लोग ही साहित्य का रसास्वादन कर सकते थे, लेकिन वचनकारों ने अपने वचनों द्वारा साहित्य को साधारण जनता की भी वस्तु बनाया। बोलचाल की भाषा साहित्य में प्रयुक्त होने के कारण खूब मंज गयी और परवर्ती अन्य सम्प्रदायों के साहित्यकारों पर भी वचनकारों की शैली का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार वचन साहित्य के द्वारा बारहवीं शताब्दी के बाद कन्नड़ साहित्य की गतिविधि में नयी स्फूर्ति का संचार हुआ। श्री एम. आर. श्रीनिवासमूर्ति ने वचन साहित्य की विशेषता का वर्णन इस प्रकार किया है- 'कन्नड़ साहित्य जगत में विचरते हुए जब हम आगे बढ़ते हैं तब वचन साहित्य रूपी तपोवन में प्रवेश करते हैं। उस समय ऐसे दिव्य आनन्द का अनुभव होने लगता है मानों हमें सिद्ध साधक ऋषि-मुनियों के दर्शन हुए हों, उनके उदात्त जीवन तथा धार्मिक उपदेश से हमारे अंतःकरण की परिशुद्धि हुई हो और आत्मा के बंधन अपने आप टूटकर मुक्तावस्था प्राप्त हुई हो। यहाँ शहर-वास का कोलाहल नहीं है, राजाओं के आस्थानों का वैभव नहीं है। तपोवन की सहज शांति,

परस्पर प्रेम, समताभाव, स्वातंत्र्य ये मूर्तिमान हैं। यहाँ वचन-साहित्य में धर्म का वैसा ही दर्शन मिलता है जैसाकि अरण्यकों में उपनिषद के दर्शन मिलते हैं। सत्य की जिज्ञासा ही साहित्य का रूप धरकर, सत्यान्वेषण ही सिद्धान्त बनकर और सत्य का साक्षात्कार ही दर्शन बनकर हमें आनन्द की प्राप्ति कराते हैं।

'यह वचन साहित्य ही तपोवन का उपनिषद साहित्य है। वचनकार ही उपनिषदों के कर्ता महर्षि हैं। यहाँ 'गुह्यात् गुह्यतरं' का वाद नहीं है, दुराव छिपाव नहीं है, जाति, लिंग, वर्ण के कारण भेद-भाव नहीं है, अधिकारी-अनधिकारी की चर्चा नहीं है और न इस प्रकार के तर्क-वितर्क ही हैं कि वेद बड़ा है या आगम बड़ा है। सबके सम्मुख जो प्रश्न उपस्थित हैं वे समान हैं, उनका उत्तर भी समान है।'

वीरशैव मत का दार्शनिक पक्ष– वैसे तो यह माना जाता है कि वीरशैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण शैवागमों तथा श्रीपति पण्डिताराध्य के वेदान्त सूत्र पर लिखे 'श्रीकर भाष्य' नामक ग्रंथ के आधार पर किया गया है। लेकिन बसव, अल्लमप्रभु, सिद्धराम, अक्कमहादेवी जैसे भक्तों के वचनों में आध्यात्मिक विचारों की जो चर्चा हुई है उसी को इस सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त के लिए आधार मानना चाहिए। यही कारण है कि इन भक्तों के वचन 'वचनशास्त्र' अथवा 'वचनधर्म' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। वचनकारों ने जीव, जगत, ब्रह्म, मुक्ति, मुक्ति का साधना मार्ग आदि गहन विचारों पर चिन्तन किया है, मंथन किया है और बड़े ही सहज ढंग से अपने अनुभव की कसौटी पर कसकर आत्मानुभूति को व्यक्त किया है। उनकी अभिव्यक्ति में ऐसी मौलिकता है कि आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति और किसी शास्त्र-ग्रन्थ के अवलोकन करने की जरूरत नहीं रह जाती, किन्तु इन भक्तों के विचार नाना वचनों में बिखरे पड़े हैं, कहीं एक ही जगह नहीं मिल सकते।

वीरशैव एक ही ईश्वर को मानते हैं जिसे वे 'शिव' कहते हैं। शिव नित्य हैं, सर्व स्वतंत्र हैं, सृष्टि, स्थिति, लय से परे हैं। वे अवर्णनीय हैं, अनिर्वचनीय हैं। आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा आदि पंचेंद्रियों के लिए अगोचर हैं, सब वस्तुओं से परे हैं। शिव चैतन्य स्वरूप हैं, निराकार हैं। बसव कहते हैं- 'जहाँ देखता हूँ वहाँ तुम हो, सब में तुम्हारा विस्तार है, विश्व के बाहु तुम हो, विश्व के नयन तुम हो, विश्व का मुख तुम हो, विश्व के पैर तुम हो, हे कूडल संगम देव।' यह परवस्तु ब्रह्म, विष्णु, रुद्र नहीं है, उनसे भी परे है और उनके लिए कारण-स्वरूप है। अल्लमप्रभु अपने एक वचन में शिव का निरूपण इस प्रकार करते हैं 'यह वह शिशु है जिसके माँ-बाप नहीं हैं, तुम स्वयं ही पैदा होकर बड़े हुए हो सकते हो। अभेद्य हो। अपने चरित्र को तुम ही बता सकते हो वीरशैव मत में हरि और हर के भेद के बाद के लिए कोई गुंजाइश नहीं है- क्योंकि शिव सबसे बड़े हैं, अद्वितीय हैं। बसव कहते हैं- 'ईश्वर दो, तीन है जोश में आकर ऐसा मत कहो, ईश्वर एक ही है दो कहना है, कूडलसंगम एक ही देव हैं और दूसरा कोई देव नहीं है।' इस विचार का समर्थन सभी वचनकारों ने किया है।

काश्मीर शैव सिद्धान्त की तरह वीरशैव मत शक्ति की सत्ता में विश्वास करते हैं। शिव अपने ही भीतर स्थित शक्ति द्वारा जगत् की सृष्टि करते हैं। शक्ति में शिव के सभी गुण वर्तमान हैं। शक्ति सर्वसाक्षणी है, सत्य सम्पूर्णा है, निर्विकल्पा है और महेश्वरी है। वह अपनी स्वतन्त्र शक्ति के बल से कला- शक्ति और भक्ति-शक्ति नामक दो रूपों में विभाजित होती है। कलाशक्ति का सम्बन्ध लिंग के साथ है। इसी कलाशक्ति से जगत की सृष्टि होती है। भक्ति-शक्ति का सम्बन्ध अंग अथवा जीव से है। यह भक्ति-शक्ति भव का नाश करती है। वीरशैव मत में यही कलाशक्ति माया के रूप में दिखायी पड़ती है। इस माया का दूसरा नाम है अविद्या। वचनकारों ने माया शब्द को सांसारिक बन्धन के रूप में भी प्रयुक्त किया है। लेकिन इस मत में माया उसी तरह शिव का अंग है जिस तरह गर्मी अग्नि का अंग है। लिंगायत मत को शक्ति-विशिष्टाद्वत भी कहते हैं। इसका कारण यही है कि शिव परब्रह्म है, शक्ति उनमें एक-रस होकर विद्यमान रहती है 'सामरस्या-भेद लक्षनादात्म्य सम्बन्धेन वर्तमाः'। इस शक्ति में अद्भुत कार्य करने की शक्ति है। शिव अपनी शक्ति के द्वारा जगत की सृष्टि करते

हैं, उसका पालन करते हैं और लय करते हैं।

वीरशैव यह मानते हैं कि शक्ति से भक्ति बड़ी है, क्योंकि शक्ति प्रवृत्ति मार्ग की ओर ले जाती है और भक्ति निवृत्ति मार्ग की ओर। शक्ति से आवरण पैदा होता है अतः शिव और अंग के बीच में पर्दा पड़ता है, किन्तु भक्ति इस परदे को हटाने का प्रयत्न करती है। शक्ति से अंधकार उत्पन्न होता है और भक्ति शुभ्रतेज से चमकती है और परदा अथवा आवरण को हटाती है।

अष्टावरण– जीव मूलतः शिवस्वरूप है, लेकिन अज्ञान रूपी आवरण के अन्दर बद्ध होता है। फिर से शिवैक्य प्राप्त करने के लिए जीव को अपने अंग के गुणों से मुक्त होकर लिंगत्व प्राप्त करना चाहिए। वीरशैव मत में इस साधना के कुछ सहायक बताए गए हैं। ये सहायक कवच की तरह साधनावस्था में जीव की रक्षा करते हैं। ये सहायक आठ हैं जिन्हें अष्टावरण कहते हैं। अष्टावरण के नाम इस प्रकार हैं :- गुरु , लिंग, जंगम, प्रसाद, पादोदक, विभूति, रुद्राक्ष और मंत्र।

वीरशैवमत का भक्तिमार्ग षट्स्थल सिद्धान्त कहलाता है। साधक की साधनावस्था को छह भागों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक भाग के लिए एक-एक अलग नाम रख दिया गया है। ये षट्स्थल इस प्रकार हैं- भक्तस्थल, महेश्वर स्थल, प्रसादिस्थल, प्राणलिंगीस्थल, शरणस्थल और ऐक्यस्थल। ये छह स्थल एक प्रकार से छह सीढ़ियां हैं।

वीरशैव भक्तों की आरंभिक परम्परा– अब इस बात में कोई सन्देह नहीं रह गया है कि वीर शैव सम्प्रदाय का आरम्भ करने वाले बसव नहीं थे, बसव के पहले ही कर्नाटक में यह सम्प्रदाय प्रचलित था और बसव ने केवल उसका पुनरुद्धार किया। कन्नड़ के कई विद्वान यह भी मानने लगे हैं कि वचन-साहित्य का आरम्भ भी बसव से पहले हो गया था, क्योंकि बसव तथा उनके समकालीन भक्तों के वचन-साहित्य की भाषा तथा शैली में ऐसी प्रौढ़ता पायी जाती है कि यह निश्चय ही कहना पड़ता है कि बसव के पहले से ही यह वचन-शैली चल पड़ी थी। डॉ. नन्दीमठ यह मानते हैं कि लगभग ग्यारहवीं शताब्दी से अर्थात् बसव के करीब एक सौ साल पहले कन्नड़ में वचन साहित्य रचा जाने लगा था। लेकिन सर्वप्रथम वचनकार कौन थे इसका कुछ निर्णय अब तक नहीं हो पाया है। बसव तथा उनके साथियों ने अपने वचनों में 'आद्यों के वचन', 'शरणों के वचन', 'पुरातनों के वचन' आदि शब्दों का प्रयोग किया। जिससे यह सिद्ध होता है कि बसव के पहले वचनकार हो गए थे। बसव के पूर्ववर्ती वचनकारों में सकलेश मादरस, देवरदासिमय्या, एकान्तदरामय्या आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। देवरदासिमय्या अथवा जेडरदासिमय्या (सन् 1040 ई.) जुलाहे जाति के थे। इनकी कहानी बसवपुराण तथा चेन्नबसव पुराण में कही गयी है। जनश्रुति है कि ये चालुक्य राजा की रानी संगलदेवी के गुरु थे और इन्होंने जैन राजा को वीरशैवमतावलम्बी बनाया था। इनके वचनों में 'रामनाथ' उपनाम का प्रयोग हुआ है। एकांतदरामय्या (लगभग सन् 1160) एक प्रसिद्ध भक्त हुए। डा. फ्लीट ने शिलालेखों के आधार पर इनके जीवनवृत्त का थोड़ा सा परिचय दिया है। यह बताया गया है कि ये पुरुषोत्तम और पाम्बिका नामक शैव ब्राह्मण-दम्पति के पुत्र थे जो आलंदे नामक कुंतल देश के एक गाँव के निवासी थे। बसव पुराण तथा क्षेत्रबसव पुराणों में भी इनकी कहानी कही गयी है। इन्हीं को अक्सर बोरक्षन मत का जन्मदाता भी बताया जाता है। सकलेश मादरस (लगभग सन् 1150) बसव पुराण के अनुसार कल्लकुरिके नामक प्रदेश के सामंत राजा थे। उनके पिता मल्लरस वीरशैव भक्त थे और श्रीशैल में रहा करते थे। मादरस भी अपने पिता की तरह बाद में विरक्त हो गए और कल्याण के बसव आदि भक्तों की मण्डली में जा मिले थे।

कल्याण में बसव द्वारा स्थापित शिवानुभव मण्टप अथवा अनुभव मण्टप में वीरशैव भक्तों का नए सिरे से संगठन किया गया। इस अनुभव मण्टप के प्रधान अल्लमप्रभु थे जो एक बड़े तपस्वी पुरुष थे। इस मण्टप में सैकड़ों भक्त आध्यात्मिक चर्चा के लिए इकट्ठे होते थे जिनमें अल्लमप्रभु, बसव, चैन्नवसव, सिद्धराम तथा अक्कमहादेवी प्रमुख थे।

अल्लमप्रभु– अल्लमप्रभु बसव के समकालीन (सन् 1160) थे जिनका वीरशैव भक्तों में महत्त्वपूर्ण स्थान था। वसव पुराण, चेन्नवसव पुराण आदि कई

वीरशैव साम्प्रदायिक ग्रन्थों में प्रभुदेव के जीवन-वृत्त का परिचय दिया गया है। चामरस नामक कवि के लिखे 'प्रभुलिंग लीले' नामक काव्य में अल्लम को शिव का अवतार बताया गया है और बड़े ही विस्तार के साथ उनकी कहानी कही गयी है। अल्लम का जन्म कहाँ हुआ और उनके माता-पिता कौन थे इसका कुछ ठीक-ठीक पता नहीं है। श्री एम.आर. श्री निवासमूर्ति ने लिखा है कि अल्लम का जन्म मैसूर राज्य के शिवमोग्या जिले में वल्लिगावे नामक जगह में हुआ था और उनका विवाह कामलता नामक एक रूपवती लड़की से हुआ था। लेकिन कुछ ही दिनों में उसकी सन्निपात ज्वर से मृत्यु हो गई। अपनी प्यारी पत्नी की आकस्मिक मृत्यु के कारण अल्लम संसार से विरक्त हो जंगल में जाकर दीर्घ काल तक तपस्या करते रहे जिसके फलस्वरूप उन्हें आत्मज्ञान की सिद्धि हुई। श्री दिवाकर जी ने बताया है कि अल्लमप्रभु कारबार जिले के बनवासी के निवासी थे और नागवसाधिपति और सज्जन देवी नामक शिवभक्त दम्पत्ति के पुत्र थे। पहले इनका नाम अल्लम था और बाद में अपने महान गुणों के कारण महाप्रभु, प्रभु, प्रभुदेव के नामों से सम्मानित हुए। इनकी पत्नी का नाम था कामलता। इनकी रचनाओं में 'गुहेश्वर' उपनाम पाया जाता है। केदारनाथ सिंह ने इनके अल्लम नाम को लेकर लिखा है– 'मैं यहाँ यह स्पष्ट कर दूँ कि इस नाम में जो 'अल्लामा' शब्द लगा है, वह कन्नड़ का ठेठ अपना शब्द है, जिसका अर्थ है– ढोल बजानेवाला। अल्लामा प्रभु के पिता अपने समय के जाने-माने नृत्य-गुरु थे और यदि उन्होंने अपने युवा पुत्र के ढोल बजाने की प्रतिभा को देखते हुए उसे 'अल्लामा' विशेषण दिया हो तो यह बिल्कुल स्वाभाविक ही था। तथ्य चाहे जो भी हो, जनता में वे इसी नाम से प्रसिद्ध हुए।'

संसार से विरक्त होने के बाद इन्होंने अनुमिषदेव नामक शिवयोगी से दीक्षा ली। अनन्तर अल्लमप्रभु ने शिवाद्वैत तत्व का उपदेश देते हुए सारे देश की यात्रा की। यात्रा से लौटकर अपनी शिष्य-मण्डली के साथ जाकर कल्याण नगर में बसव आदि भक्तों से मिले। अल्लम जैसे महान विरक्त और ज्ञानी के संसर्ग से बसव में जो कुछ अहंभाव था वह दूर हुआ और कल्याण के भक्त अल्लम के असाधारण व्यक्तित्व से विशेष प्रभावित हुए। परिणामस्वरूप बसव द्वारा स्थापित अनुभव-मण्टप के अल्लमप्रभु प्रधान चुने गए। कुछ दिनों के बाद अल्लमप्रभु ने पौन्नबलनाथ, रामेश्वर, महाबलेश्वर, सौराष्ट्र, सोमनाथ, केदार जैसे तीर्थों की यात्रा के लिए प्रस्थान किया। इसी यात्रा के समय अल्लम को शिवयोग का पूर्णानुभव हुआ। इस प्रकार परशिव का साक्षात्कार पाकर अल्लम कल्याण लौटे और बसव द्वारा स्थापित साम्प्रदायिक आध्यात्मिक गद्दी का अध्यक्ष पद ग्रहण किया। यह आध्यात्मिक गद्दी वीरशैवों में 'शून्य सिंहासन' कहलाती है।

अल्लम के वचन आकार में छोटे होते हुए भी आध्यात्मिक ज्ञान के भण्डार हैं। भक्ति-साधना के मार्ग में अल्लम को किसी प्रकार का ढकोसला, बेईमानी, भ्रष्टाचार सह्य नहीं था। जब वे कल्याण आए तब वहाँ वसव के आश्रम में एक बड़ी भक्तमण्डली संगठित हो गई थी। वसव तो इतने उदार और कोमल स्वभाव के महात्मा थे कि कभी किसी से वे दिल दुखाने की बात नहीं कहते थे। इसका यह परिणाम हुआ कि बहुत से ऐसे लोग जमा हो गए थे जो स्वार्थी व वेषधारी थे। जब अल्लम शिवानुभवमष्टप के प्रधान चुने गए तब उन्होंने कपटियों को मण्टप में रहना कठिन कर दिया। अल्लम ऐसे खरे और स्पष्टवादी थे कि वेषधारियों का उनके सम्मुख कुछ वश नहीं चलता था। ऐसे लोगों को लक्ष्य करके अल्लम ने खूब फटकारा है- 'जिसमें सद्भक्ति सदाचार नहीं है उसमें कैसे गुरुत्व आ सकता है। सद्भक्ति और सदाचार के बिना हे पगलो, निजलिंग कैसे प्राप्त हो सकता है? सद्भक्ति और सदाचार के बिना कोई व्यक्तिजंगम और शरण कैसे बन सकता है? सद्भक्ति और सदाचार के बिना मुक्तिनहीं मिल सकती।' प्रभुदेव मानव-मानव में किसी प्रकार का भेद नहीं मानते। ऐसी थी उनकी विशाल मनोवृत्ति। प्रभुदेव के व्यक्तित्व का प्रभाव वीरशैव शरणों पर गहरा पड़ा था। अल्लम की जीवनी पर लिखा हुआ चामरस का 'प्रभुलिंगलीले' नामक महाकाव्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

बसव/ बसवेश्वर– बसव बसवेश्वर और बसवण्ण के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। बसव के जीवन-वृत्त पर

कन्नड़, तेलुगु, तमिल और संस्कृत में बहुत से ग्रन्थ लिखे गए हैं। इनमें सबसे पुराना पालकुरिके सोम (सन् 1195 ई.) का तेलुगु में लिखा हुआ ग्रंथ है जिसके आधार पर भीमकवि नामक कवि ने कन्नड़ में सन् 1369 में 'बसव पुराण' लिखा। सन् 1630 में घरणी पण्डित नामक जैन कवि ने राजा बिज्जल की जीवनी का वर्णन करते हुए बसव के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डाला है। इसमें बसव के व्यक्तित्व का जीवंत चित्र खींचा गया है। बसव शैव ब्राह्मण दम्पति मादरस और मादलम्बिका के पुत्र थे। उनका जन्म विजापुर जिले के बागेवाडी नामक गाँव में हुआ था। कहा जाता है कि बसव बचपन से बड़े क्रांतिकारी विचार रखते थे। जब उनके माता-पिता ने उनका उपनयन संस्कार कराना चाहा तब बसव घर से भाग गए और कृष्ण-मलापहारि नामक नदियों के संगम पर स्थित तीर्थ क्षेत्र में रहने लगे। जातवेद नामक एक वीरशैव तपस्वी से दीक्षा लेकर वहीं लगभग पच्चीस साल रहे। कहा जाता है कि उन्होंने संगम में यात्रा के लिए आये हुए बहुत से पण्डितों को आध्यात्मिक चर्चा करके हराया था। धीरे-धीरे बसव की भक्ति और अध्यात्म ज्ञान की कीर्ति दूर-दूर तक फैली। कल्याण नगर के जैन राजा बिज्जल के मन्त्री बलदेव की लड़की गंगाम्बिका से बसव का विवाह हुआ। बसव के असाधारण व्यक्तित्व का परिचय पाकर बिज्जल ने कुछ समय के बाद उन्हें अपना प्रधानमन्त्री तथा सेनानायक बनाया। यद्यपि बसव राजकाज के कार्य में निरत थे तो भी उनकी भक्ति-साधना में किसी प्रकार की क्षति नहीं हुई। थोड़े ही समय में उनके पास बड़ी भारी एक भक्त मण्डली जुट गयी। जनश्रुति है कि उनके आश्रय में एक लाख छियानबे शिवशरण अर्थात् वीरशैव भक्त इकट्ठे हो गए थे। जब इतनी बड़ी संख्या में वीरशैव भक्त बसव के उदार आश्रम में रहकर वीरशैव मत का प्रचार करने लगे तब सम्भवतः जैन मतावलम्बियों में बसव के प्रति विरोध बढ़ने लगा और यह विरोध विद्रोह का रूप धारण कर लिया। इस विद्रोह का यह परिणाम हुआ कि बिज्जल ने उन दो शिवशरणों को मरवाया जो पहले शैव ब्राह्मण थे और बसव के प्रभाव से वीरशैव हो गए थे। इस हत्या के कारण शिवशरणों में भी प्रतिहिंसा की भावना तीव्र हुई। बसव तो स्वभाव से ही अहिंसा, शील और चारित्र्य की मूर्ति थे। उन्होंने इस परिस्थिति को शांति से संभालने की कोशिश की, लेकिन उन्हें जब यह भास हुआ कि इस मामले में उनका कुछ बस नहीं चलेगा तब वे राजसी सुख-भोग तथा अधिकार को ठुकरा कर संगमतीर्थ चले गए और वहीं अन्त तक अनन्य भक्ति की साधना में निरत रहे।

बसव के वचनों की संख्या लगभग नौ सौ सत्तर है। इन वचनों के कई संस्करण निकले हैं। बसव का कार्य-क्षेत्र अति विशाल था। वे न केवल एक भक्त-श्रेष्ठ थे, बल्कि एक आध्यात्मिक नेता, मत-स्थापक, समाज-सुधारक भी थे। बसव ने अपने समय में जितनी सामाजिक बुराइयाँ फैली हुई थीं उनका साहस के साथ खंडन किया और जाति, वर्ण, कुल, वर्गगत कृत्रिम ऊंच-नीच का भेद-भाव दूर कर सत्य, प्रेम, नीति के आधार पर एक नूतन समाज की स्थापना करने का प्रयत्न किया। स्त्रीसमाज के प्रति जो तिरस्कार का भाव था उसे हटाकर उन्हें पुरुषों के बराबर गौरव का स्थान दिलाया। अन्त्यजों के लिए भी धर्म का द्वार खोल दिया। तत्वज्ञान की अपेक्षा धर्माचार की महत्ता पर जोर दिया, धर्माचार में नीति, शील और सदाचार की आवश्यकता बतायी। कर्म और ज्ञान के समन्वय के साथ-साथ अनन्य भक्ति-साधना का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार बसव ने मानव मात्र की सर्वतोमुखी उन्नति और मुक्ति के लिए निरन्तर परिश्रम किया। इन्हीं उपर्युक्त ऊंचे आदर्शों की सिद्धि के लिए उन्होंने वीरशैवमत का पुनः संगठन किया। एक नूतन मत की स्थापना करके सम्प्रदायों की संख्या बढ़ाने का उद्देश्य सम्भवतः उनका नहीं था। अगर बसव के बाद वीरशैव सम्प्रदाय की भी वही दशा हुई जो अन्य सभी मतों की हुई है तो उसका कारण यही कहा जा सकता है कि बसव में जो दूरदर्शिता थी, उदात्त भावना थी, विशाल मनोवृत्ति थी वह आगे नहीं रही। वसव में जो भक्ति, निष्ठा तथा तपस्या थी वह उनके परवर्ती अनुयायियों में नहीं रही। महात्मा गाँधीजी ने कर्नाटक के 1924 ई. के कांग्रेस अधिवेशन में बसवेश्वर के विषय में कहा था : 'आठ सौ वर्ष पहले बसवेश्वरजी ने जिन तत्वों का आचरण किया, उपदेश दिया, उन सभी तत्वों

का आचरण मेरे लिए संभव नहीं। उनमें से कुछ तत्वों के आचरण का मैं प्रयत्न कर रहा हूँ। साधक अवस्था में हूँ, सिद्ध नहीं। लेकिन बसवेश्वर जी सभी तत्वों का अनुष्ठान कर सके थे। किसी भी प्रकार का भेदभाव उनमें लक्षित नहीं होता। आज वे रहते तो सारे संसार के लिए पूजनीय बन जाते।'

वस्तुतः वसवन्ना गहरे अर्थ में एक मानववादी कवि थे और इस मानववाद की अभिव्यक्ति उदात्त धार्मिक चेतना के रूप में हुई थी। भक्ति उनके निकट इस धार्मिक चेतना का सबसे सर्जनात्मक रूप थी, जहाँ सारे भेद समाप्त हो जाते थे। उनकी एक प्रसिद्ध कविता में उनकी इस मान्यता का संवेदनात्मक परिपाक इस रूप में व्यक्त हुआ था–

'मैं नहीं जानता
दिन या सप्ताह क्या है
कौन सी राशि शुभ है
कौन सी अशुभ मैं नहीं जानता।
मेरे लिए रात और दिन
महज एक विभाजन है
और यह कि भक्त की जाति एक होती है
अभक्त की दूसरी।'

बसव की भक्ति प्रधानतया दास्यभाव की थी। इस दास्यभाव के अन्तर्गत नाना दशाओं का बसव ने बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है। एक वचन में वे अपनी विह्वलता की अभिव्यक्ति यों करते हैं– 'प्रभो, प्रभो, कहकर पुकार रहा हूँ, प्रभो, प्रभो, कहकर चिल्ला रहा हूँ, प्रभो, क्यों नहीं यह कहते 'आ गया' सदा तुम्हें पुकार रहा हूँ, 'आया' कहे बिना हे कूडलसंगम देव, मौन धारण किए हुए हो?'

भक्त और परमात्मा की तुलना करते हुए वे कहते हैं– 'मुझसे कोई छोटा नहीं है, शिवभक्तों से बढ़कर कोई बड़ा नहीं है। हे कूडलसंगम देव, तुम्हारे चरण इसके लिए साक्षी हैं, मेरा मन साक्षी है।' और कभी अपने अपराधों को गिनते हुए वे कहते हैं 'जब मैं अपराधों को गिनने लगता हूँ तब उसका अंत नहीं होता, आचार-व्यवहार में गलती करता हूँ। काम-काज में गलती करता हूँ, कुछ देने में गलती करता हूँ, जाने-अनजाने में गलती करता हूँ, हे कूडलसंगम देव, इन गलतियों का ख्याल न करो, मुझे क्षमा करो।' क्योंकि बसव यह अनुभव करते हैं कि ये बहुत छोटे हैं और परमात्मा बहुत बड़े– 'तुम महान हो, तुमसे मैं क्या बराबरी कर सकता हूं। मेरु पर्वत कहाँ और एक कौआ कहाँ? लोहे में चुम्बक शक्ति कहाँ से आवे?' अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं– 'इस मन की चंचलता का क्या बखान करें। पेड़ों की एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदने वाले बन्दर की तरह मेरा यह मन कूद रहा है। ऐसे दुष्ट मन का मैं कैसे विश्वास करूं?'

बसव यह समझते हैं कि भगवान के प्रति सब कुछ अर्पण किए बिना भक्ति नहीं हो सकती। वे कहते हैं– 'मुझे ब्रह्म-पदवी नहीं चाहिए, विष्णु पदवी नहीं चाहिए, रुद्र पदवी नहीं चाहिए, और किसी प्रकार का ऊँचा पद नहीं चाहिए। हे कूडलसंगमदेव, तुम्हारे सद्भक्तों के चरणों का आश्रय मिल जावे तो वही काफी है, 'परमात्मा को प्रसन्न करने का सबसे उत्तम और सरल मार्ग भक्ति है, यही बसव का दृढ़ विश्वास है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं– 'हमारे कूडलसंगम देव नादप्रिय नहीं हैं, वेदप्रिय नहीं हैं, केवल भक्तिप्रिय हैं।' 'शास्त्र को बड़ा कहूँ, वह तो कर्मकाण्ड की पूजा करता है, वेद को बड़ा कहूँ, वह प्राणीवध का उपदेश देता है, स्मृति को बड़ा कहूँ, वह तो अंधेरे में तुम्हें ढूंढ रहा है, वहाँ तुम नहीं हो। हे कूडलसंगमदेव, तुम त्रिविध दासोह से अर्थात् गुरु, लिंग जंगम की सेवा करने से प्रसन्न होते हो।' यद्यपि परमात्मा भक्ति द्वारा बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं तो भी भक्ति करना आसान नहीं है। भक्ति साधना असिधाराव्रत की तरह कठिन साध्य है, क्योंकि भगवान भक्तों की कई तरह से जाँच करते हैं। हर (शिव) अपने भक्तों की पैने चाकू चलाकर परीक्षा करते हैं, सोने की तरह कसौटी पर कस कर देखते हैं, चंदन की तरह पीस कर देखते हैं। इतना सारा करने पर भी यदि नहीं डरे, तो भगवान अपने भक्तों को अपने हाथों में उठा लेते हैं। बसव की भक्ति साधना में धर्माचरण को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। वह धर्म क्या है? बसव ने धर्म की व्याख्या बड़ी सरलता के साथ की है– 'दया रहित धर्म कैसा? सब प्राणियों के प्रति दया चाहिए, दया ही धर्म का मूल है।'

भारत के अन्य भक्तों की तरह बसव ने भक्ति साधना में गुरु का स्थान महत्त्वपूर्ण बताया है। 'शिवपथ को जानने के लिए गुरु पथ का ज्ञान सबसे पहले प्राप्त करना चाहिए। जिस प्रकार घड़ा बनाने के लिए मिट्टी सबसे पहली आवश्यक वस्तु है, और जिस प्रकार गहने बनाने के लिए सोना ही पहली आवश्यक वस्तु है उसी प्रकार 'कूडलसंगम' को जानने के लिए गुरु ही सबसे पहले आवश्यक हैं।'

आत्मशुद्धि, सचाई, नैतिक जीवन की आवश्यकता पर जोर देते हुए बसव ने बाह्याडंबर, पाखण्ड, स्वार्थ आदि का तीव्र शब्दों में खण्डन किया है। रामविलास शर्मा ने लिखा है– 'बसवेश्वर ने सामाजिक रूढ़ियों की जो तीखी आलोचना की, उसे देखकर कबीर की याद आती है। अपने विरोधियों को चुनौती के स्वर में उन्होंने जो उत्तर दिया, उसे देखकर तुलसीदास की याद आती है।'

चेन्नबसव– अल्लमप्रभु की तरह चेन्नबसव (सन् 1160) भी बसवेश्वर के समकालीन और उनके प्रमुख साथियों में एक थे। बसव, अल्लम और चेन्नबसव 'शिवशरण त्रिमूर्ति' के नाम से प्रसिद्ध थे। बसव भक्ति, अल्लम विरक्ति और चेन्नबसव ज्ञान के कारण वीरशैव भक्तों में लोकप्रिय हुए थे। चेन्नबसव के जन्म के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि बसव की एक बड़ी बहन थी जिसका नाम था अक्कनागम्म अथवा नागायक्क। अक्कनागम्म के पति थे शिवस्वामी। चेन्नबसव इसी दम्पती के पुत्र थे। चेन्नबसव ने बसव के सभी कार्यों में साथ दिया था और वीरशैवमत के पुनः संगठन में पूरा योग दिया था। चेन्नबसव के वचनों में 'कूडलचेन्नसंगम देव' उपनाम पाया जाता है जिससे यह स्पष्ट है कि ये भी बसव की तरह संगमेश्वर के उपासक थे। कावार जिले के 'उठवि' नामक स्थान में आपकी समाधि का होना बताया जाता है।

चेन्नबसव अल्लम की तरह पहुँचे हुए ज्ञानी थे। उनकी रचनाओं में भक्ति की अपेक्षा ज्ञान की ज्योति अधिक जगमगाती है। चेन्नबसव में बसव के न वे दैन्य व दास्य भाव पाए जाते हैं न अपने पाप व दोष के लिए पश्चाताप ही। यदि बसव के वचनों में हृदय पक्ष का प्रभाव अधिक दिखायी पड़ता है तो चेन्नबसव के वचनों में बुद्धि पक्ष की प्रबलता पायी जाती है। अल्लम के बाद चेन्नबसव ने वीरशैव की गद्दी 'शून्यसिंहासन' पर आरूढ़ होकर सम्प्रदाय के संगठन को और भी बलवान बनाया। उनमें ज्ञान की ऐसी प्रखर प्रभा थी कि जो कोई उनके संसर्ग में आते थे परिशुद्ध हो जाते थे। षट्स्थल सिद्धान्त का शास्त्रीय निरूपण करके वीरशैवों में उसका प्रचार करने के लिए चेन्नबसव ने विशेष उद्योग किया। मत सम्बन्धी विधि-नियमों की प्रतिष्ठा बढ़ाकर चेन्नबसव ने समाज-व्यवस्था की बागडोर अपने हाथ में ली थी। इनकी और एक विशेषता यह थी कि ये स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे। लोक प्रचलित बात करना अथवा दूसरे के बताए मार्ग पर चलना चेन्नवसव अपनी शान के खिलाफ समझते थे। इसलिए वे कहते हैं 'प्रभो, लोक का रास्ता मेरे लिए टेढ़ा है और मेरा रास्ता लोक के लिए टेढ़ा है।' जगत को छोड़कर जंगल जाने के लिए वीरशैव धर्म नहीं कहता। इस मत के अनुसार जगत में रहते हुए शिव में ऐक्य प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अल्लमप्रभु की तरह चेन्नबसव ने भी अन्तरंग शुद्धि की सराहना की है। वेशभूषा, बाहरी आचार का तब तक कोई मूल्य नहीं है जब तक अन्तरंग ज्ञान का विकास नहीं हुआ हो। बाहरी क्रिया और आत्मज्ञान की समरसता में ही भक्तिसाधना सफल हो सकती है। तत्त्वों का सही ज्ञान प्राप्त किए बिना अधपकी बातें करने वाले शिवशरणों तथा जंगमों को चेन्नवसव ने खूब खरी खोटी सुनायी है।

चेन्नबसव की स्पष्टोक्ति उनके वचनों में भलीभाँति सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। उनकी वाणी की एक विशेषता है कि थोड़े ही चुने हुए सरल शब्दों में बड़े गम्भीर तत्त्वों का निचोड़ इस तरह रख देना कि बिना प्रयास के सब किसी की समझ में आ जाय। इनके कुछ ऐसे भी वचन मिलते हैं जो सूत्रों की तरह छोटे हैं।

जो लोग शील की, बड़े-बड़े तत्त्व की बातें किया करते हैं, सदाव्रत नियम रखते हैं और समाज में बड़प्पन का बाना पहन कर चलते हैं, उन्हें सम्बोधित करके निःसंकोच हो चेन्नबसव कहते हैं, 'बड़े घमण्ड से 'शील-शील' बका करते हो, क्या तुम जानते हो कि शील

किसे कहते हैं? सुनो, जो है उसे नहीं छिपाना ही शील है, जो नहीं है उसे उधार न लेना ही शील है, परधन, परस्त्री को न छूना ही शील है, गुरु निन्दा, हरनिन्दा न सुनना ही शील है, जब हमारे कूडलचेन्न संग के शरणों के आगमन पर अपना सब कुछ अर्पण करना ही शील है।'

वीरशैव मत ने सामाजिक जीवन को ऊपर उठाकर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न किया था। इसके लिए उस मत में शरीर-श्रम को महत्त्व दिया गया है। चेन्नबसव ने शरीर-परिश्रम के तत्त्व पर विशेष जोर दिया है। उन्होंने जो कुछ कहा है उसे उन्होंने सोच-समझ कर ईमानदारी से कहा है। प्रखर प्रतिभा, सचाई, विद्वत्ता शायद ही एक ही व्यक्ति में देखने को मिले। किन्तु चेन्नबसव में हम इन तीनों गुणों का समन्वय पाते हैं। इस प्रकार चेन्नबसव वीरशैव मत के एक विचारक, आचार्य और साधक थे। श्रीसिद्धराम जो कि एक महान भक्त हुए हैं, चेन्नबसव के प्रधान शिष्य थे। सिद्धराम ने चेन्नवसव की महानता का वर्णन करने में विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव किया है।

सिद्धराम– सिद्धराम अथवा सिद्धरामेश्वर बसव के समकालीन एक प्रमुख भक्त थे। सोलापुर के निवासी मुद्दप्प और सुग्गब्बे नामक दम्पती ने अपनी वृद्धावस्था में सिद्धराम को जन्म दिया। जनश्रुति है कि वीरशैव गुरु रेवणसिद्ध ने सिद्धराम के जन्म के कुछ समय पूर्व मुद्दप्प के घर पैदल ही जाकर यह भविष्यद्वाणी की थी कि 'तुम्हारे घर में परशिव स्वरूप एक शिवयोगी का अवतार होगा।' जब सिद्धराम छोटे बालक थे तभी उन्हें चेन्नमल्लिकार्जुन अर्थात् परशिव का साक्षात्कार हो गया था। इस तरह के और भी अद्‌भुत प्रसंगों का वर्णन सिद्धराम के जीवन-वृत्त के साथ लिखा पाया जाता है। सिद्धराम बड़े कर्मयोगी थे। पुण्य कमाने की अभिलाषा से सिद्धराम ने कितने ही मन्दिर, कुआं, तालाब आदि का निर्माण शुरू किया था। जब अल्लम ने सिद्धराम की प्रतिभा का इस दिशा में दुरुपयोग होते देखा तब उन्हें कुछ चुभती बातें सुनायीं और उनका ध्यान भक्ति की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया। सिद्धराम बहुत आसानी से अल्लम की बातों में आने वाले नहीं थे। कहा जाता है कि दोनों में बहुत देर तर्क, वाद-विवाद चलता रहा। वीरशैव संप्रदाय में इस संवाद का बड़ा ही मनोरंजक वर्णन मिलता है। अल्लम ने कहा कि मन्दिर बनवाकर उसमें स्थावर लिंग की पूजा अर्थात मूर्तिपूजा करना व्यर्थ काम है, इससे शिव का साक्षात्कार नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में अल्लम का एक वचन प्रसिद्ध है– 'अन्न दान करके, मीठी बात बोलकर, धर्मशाला और तालाब बनवाने से मरने के बाद स्वर्ग भले ही मिले, शिव का साक्षात्कार नहीं हो सकता। गुहेश्वर के समझदार शरणों (भक्तों) के लिए इससे कोई लाभ नहीं है।' (वचनधर्मसार) अल्लम के तर्क से प्रभावित सिद्धराम कल्याण गए और चेन्न-बसव से दीक्षा लेकर अनुभव मण्टप में शामिल हो गए।

सिद्धराम के वचनों की संख्या लगभग 850 है। अन्य वचनकारों की तरह सिद्धराम ने भी यह उपदेश दिया है कि सच्ची योग्यता जप-तप तथा गुण से प्राप्त होती है, न कि कुल या जन्म से। सिद्धराम ने कुछ वचनों में पार्वती की भी स्तुति की है जो अन्य किसी वचनकार के वचनों में नहीं मिलती। सिद्धराम के वचनों में उत्तम साहित्य के गुण विद्यमान हैं। उनके वचन छोटे हैं, पर हैं अर्थ-पूर्ण। उनमें विशेष प्रकार का प्रवाह और संगीत है। जटिल विषयों को सरल शैली में कहने में सिद्धराम सिद्धहस्त हैं। साम्प्रदायिक पारिभाषिक शब्दों की कहीं भी भरमार नहीं है। सिद्धराम की भक्तिमें निष्ठा, ज्ञान और योग साधना का सुन्दर समन्वय हुआ है।

अक्क महादेवी– वीरशैव भक्तों में महादेवीयक्क अथवा अक्कमहादेवी का महत्वपूर्ण स्थान है। श्री एम.आर. श्रीनिवासमूर्ति ने महादेवी के व्यक्तित्व की महत्ता का इस तरह वर्णन किया है– 'महादेवीयक्क का जीवन चरित्र क्या है– स्त्री की गौरव-गरिमा, स्वातंत्र्य-प्रियता और परमार्थ साधना का एक महाप्रकरण है।' श्री आर.आर. दिवाकर ने भी इस भक्तनारी का वर्णन उल्लिखित रूप में किया है– 'महादेवी अपने ज्ञान के प्रकाश से कामी पुरुषों को पथ-प्रदर्शित करने वाली वीर, वैराग्य-उज्ज्वल अनुभावयुक्त साहसी और धर्माङ्गना तथा शिव-क्षरणाओं में मुकुटमणि हैं। उनके शील से उनके वचनों में क्रांति फैली है, उनके तेज-पुंज चरित्र से उनकी वाणी चमक उठी है।'

चामरस कवि कृत 'प्रभुलिंग लीला' में महादेवी का जीवनवृत्त संक्षेप में दिया गया है। 'शून्य सम्पादने' नामक सम्प्रदाय के ग्रन्थ में भी कुछ उल्लेख किया गया है। इसके आधार पर यह माना गया है कि मैसूर राज्य के शिवमोग्गा जिले में उडुतडि नामक गाँव में अक्कमहादेवी का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम निर्मल था और माता का नाम सुमति। दोनों ही शिव-भक्त थे। ग़रीब होने पर भी शीलादिगुणों से यह परिवार सम्पन्न था। अक्क महादेवी बड़ी रूपवती थी। महादेवी का रूप और यौवन देखकर उस प्रदेश के जैन राजा कौशिक मोहित हो गए और लड़की को विवाह में देने के लिए परिवारवालों को मजबूर किया। गरीब मां-बाप में राजा की इच्छा के विरुद्ध जाने का साहस कहाँ? लेकिन अक्क महादेवी ने स्वयं को विवाह के बन्धन में बांधकर अपनी अध्यात्म-साधना में बाधा डालने से इनकार कर दिया, क्योंकि बचपन से ही महादेवी में भक्ति का अंकुर पल्लवित तथा पुष्पित हो गया था। जब राजा की प्रेम-भिक्षा ने राजाज्ञा का रूप धारण किया तब ग़रीब माता-पिता संकट में पड़े। अपने प्यारे माता-पिता की हृदय-वेदना को देखकर महादेवी का मन पिघल गया और विवाह के लिए राजी हो गयीं। किन्तु उन्होंने विवाह के लिए कुछ शर्तें लगायीं। उन्होंने कहा कि उनकी अपनी पूजा-उपासना में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़नी चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्होंने राजा से तीन नियमों का पालन करना आवश्यक बताया और कहा कि यदि इन नियमों के पालन में कुछ क्षति हुई तो वह उनसे अलग हो जाएगी। मोही कौशिक ने सब शर्तें मान ली। लेकिन स्त्री को एक भोग की वस्तु समझने वाले उस कामी राजा के साथ सदा शिवध्यान निरत महादेवी की कैसे निभ सकती थी? जैसे ही राजा ने किसी समय उक्त नियमों के पालन में त्रुटि की, वैसे ही महादेवी राजसी सुख-भोग को लात मारकर महल से चेन्नमल्लिकार्जुन अर्थात् परशिव की खोज में निकल पड़ीं। लोगों ने बहुत कुछ समझाया और घरबार छोड़ देने से होने वाली विकट परिस्थितियों का भयावना चित्र उपस्थित किया, लेकिन महादेवी ने कहा, 'यदि भूख लगी तो भिक्षान्न मिलेगा, प्यास लगी तो झील-सरोवर का पानी है, सोने के लिए भग्न मन्दिर है और चेन्नमल्लिकार्जुन सदा साथ हैं।' जिस तरह बसव के उपास्य देव का नाम कूडलसंगम था उसी प्रकार अक्कमहादेवी के उपास्यदेव 'चेन्नमल्लिकार्जुन' थे, जो उनके प्रत्येक वचन के अन्त में अंकित है।

महादेवी अपने पति के घर को छोड़ वहाँ से अकेली चल पड़ीं और जंगलों, पहाड़ों के होते हुए कल्याण नगर पहुँचीं। इस रूपवती नवयुवती को अकेली देखकर लोगों ने तरह-तरह के विचार व्यक्त किए। महादेवी को लोगों की व्यंग्य भरी बातें सुनकर असहनीय मनोवेदना सहनी पड़ी। 'शिवानुभव मण्टप' में बसव, अल्लम आदि सबों ने महादेवी की कई तरह से परीक्षा ली। महादेवी की प्रेमविह्वल निर्मल भक्ति को देखकर बसव और अल्लम दोनों अत्यन्त प्रसन्न हुए। बसव से दीक्षा लेकर महादेवी शिवानुभव मण्टप में शामिल हुईं।

अक्कमहादेवी ने अपने चरित्र द्वारा यह साबित किया है कि अबलायें भी सबलायें बन सकती हैं। उनकी वीरवाणी अध्यात्मसाधना में अन्यत्र दुर्लभ है। वे कहती हैं– 'जिसने पर्वत पर घर बसाया है वह जंगली जानवरों से क्यों डरे, जिसने समुद्र पर घर बनाया है वह लहरों को देखकर क्यों भयभीत हो, बाजार में घर बसाकर शोरगुल से क्यों घबरावे। हे चेन्नमल्लिकार्जुन, जब इस संसार में जन्म लिया है तब फिर निन्दा-स्तुति सुनकर क्यों कोई मन में क्रोध का भाव लावे, शांति से सब सहना चाहिए।' (वचन धर्मसार)।

महादेवी का लोकानुभव अपार था। उन्होंने बसव से भक्ति, प्रभुदेव से ज्ञान, चेन्नबसव से धर्म इस प्रकार तीन महात्माओं से तीन गुणों को ग्रहण कर अपनी भक्ति साधना को परिपक्व किया था। उन्होंने बड़े ही रोचक शब्दों में जगत की असारता का वर्णन किया है। उनकी विरक्ति का नमूना शायद ही अन्यत्र मिले। जितने दिन तक महादेवी कल्याण में रहीं उतने दिन तक उन्होंने अपनी अनन्य भक्ति, शील, उज्ज्वल चरित्र और सेवा से वचनमण्टप के शिव-शरणों को मुग्ध कर रखा था। परतत्त्व का साक्षात्कार करके महादेवी अपनी अध्यात्म साधना का चरम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए श्रीशैल की ओर चल पड़ीं और वहीं शिवैक्य को प्राप्त हुईं।

महादेवी की भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है मधुर भाव की सुन्दर अभिव्यंजना। गिरिधर-गोपाल के प्रति मीरांबाई की जो प्रेम विह्वलता तथा विरह वेदना है वही महादेवी की भक्तिमें पायी जाती है। उनके कई वचनों में इस मादक प्रेम-भक्ति का मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है। परमात्मा के विरह में महादेवी पागल होकर जो भी वस्तु सामने दिखायी पड़ती है उससे अपने प्रियतम का पता पूछती हैं। उनके एक प्रसिद्ध वचन का भाव इस प्रकार है– 'हे चहचहाने वाले शुकवृन्द, क्या तुमने देखा है? तार स्वर में गाने वाले हे कोकिलो, क्या तुमने देखा है? ऊपर उड़कर मंडराने वाले हे भौरों, क्या तुमने देखा है? सरोवर पर खेलने वाले हे हंसगण, क्या तुमने देखा है? गिरि-कन्दराओं में नाचने वाले हे केकियो, क्या तुमने देखा है? तुम क्यों नहीं कहते कि चेन्नमल्लिकार्जुन कहाँ हैं?'

जिस तरह शिवशरणों के साहित्य में मधुर भक्ति-साधना की दृष्टि से महादेवी के वचनों का महत्वपूर्ण स्थान है उसी तरह उनके वचन उच्चकोटि के साहित्यिक गुणों के लिए भी प्रसिद्ध हैं। उनके साहित्य-सौष्ठव का वर्णन कन्नड़ के एक आलोचक ने इस प्रकार किया है, 'अक्क महादेवी के वचनों में भावोत्कर्ष है, अर्थ-गांभीर्य है, मधुर पद-योजना है, आलंकारिक भाषा है। एक शब्द में कहना हो तो कह सकते हैं कि उत्तम कवि-जीवन का सारा संस्कार, हृदय का सारा रसानुभव उनमें कूट-कूट कर भरा है। कन्नड़-शारदा ने उनकी रसना पर चढ़कर काव्य रूप वचन मुक्तकों का गान कराया है।'

महादेवी के वचनों में उनके मल्लिकार्जुन के लिए प्रेम, उनके प्रति समर्पण, उनसे ऐक्य की कामना और अनुभव और भाव व्यापार के कष्ट और शरणों की महिमा का काव्यात्मक वर्णन है। महादेवी के वचनों का सबसे खूबसूरत पहलू उनमें विन्यस्त प्रेम है। महादेवी पागलपन की सीमा तक मल्लिकार्जुन के प्रेम में डूबी हुई हैं। उन्होंने अपने को मल्लिकार्जुन की मंगेतर, प्रेमिका और पत्नी मान लिया है– उनका आचरण इन रूपों के साथ अपने संबंध के अनुसार है। महादेवी के वचनों में यह उल्लेख बार-बार आता है। यहाँ प्रेमी अलौकिक है, लेकिन महादेवी का प्रेम लौकिक है। ए.के. रामानुजन के अनुसार, यह प्रेम धर्मनिरपेक्ष प्रेम जैसा है। उनके अनुसार भारतीय काव्य के प्रेम के सभी के सभी रूप निषिद्ध प्रेम, वियोग में प्रेम और संयोग में प्रेम महादेवी के वचनों में हैं। वे अपने प्रिय मल्लिकार्जुन पर मुग्ध हैं।

महादेवी की वाणी वचनों में है। 'वचन' का अर्थ है 'प्रतिज्ञा वाक्य'। आध्यात्मिक अनुभव की संक्षिप्त, लेकिन सघन अभिव्यक्ति 'वचन' है। हिन्दी संत-भक्ति साहित्य में प्रचलित 'साखी' को 'वचन' का पर्याय माना जा सकता है। वचन साहित्य का कन्नड़ में आठ सौ वर्षो का इतिहास है, लेकिन ख़ास बात यह है कि फिर भी वचन कभी एक विधा के अनुशासन में सीमित नहीं हुआ। यह सांस्कृतिक परंपरा है, जो पुनर्नवा होती रही है। वचन, गद्य-पद्य दोनों में होते हैं। कोई सदाचारी या संत-भक्त जो भी कहता है वह गद्य हो या पद्य वचन है। वचन यदि पद्य है, तो यह प्रायः त्रिपदी में होता है। महादेवी के वचनों की ख़ास बात यह है कि उनमें अनायास कवित्व है। उनके साथी और समकालीन संतों में कवि होने के कारण उनकी अलग पहचान है। महादेवी को प्रेम में बिम्ब और भव व्यापार की अभिव्यक्ति में दृष्टांत अच्छे लगते हैं। प्रेम की उनकी अभिव्यक्तियां ऐंद्रिक बिम्बों से भरी हुई हैं।

'जैसे खोखले पेड़ में
आश्रय ले लेते हैं कीड़े
जैसे खाली मकान में
रहने लगते हैं कुत्ते
जैसे राजाविहीन राज्य में
आक्रमण करते हैं सामंत
तुम्हारा ध्यान न करने वाले शरीर
हे देव चेन्नमल्लिकार्जुन!
वैसे ही अधीन हो जाते हैं
भूत, प्रेत और पिशाचों के।'

अक्क महादेवी की कृतियाँ क्या है ज्ञान की निधि हैं, विरक्ति और प्रेम-भक्ति का पारावार हैं, साहित्य-सौंदर्य का आगार हैं। महादेवी के वचनों की संख्या बहुत कम है, किन्तु गागर में सागर भरा है। वचनों के अतिरिक्त 'योगांग त्रिविधि' नामक उनकी एक छोटी सी रचना बतायी जाती है जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों का सरल भाषा में निरूपण किया गया है। उनके वचनों में जहाँ

कहीं भी सामाजिक समस्या की चर्चा हुई है बसव, अल्लमप्रभु की तरह महादेवी ने सामाजिक जीवन की आलोचना नहीं की है। वहाँ उनकी उदारदृष्टि, स्पष्टवादिता दिखायी देती है। हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि केदारनाथ सिंह ने लिखा है– 'यह देश का पहला ऐसा आन्दोलन था, जिसने इतनी बड़ी संख्या में स्त्रियों को अपनी ओर आकृष्ट किया था। एक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इनमें से अधिकांश स्त्रियाँ समाज के पिछड़े या निचले तबकों से आई थीं। काव्य-सृष्टि की गुणवत्ता की दृष्टि से अक्का महादेवी इनमें शीर्ष पर थीं। लगभग सात सौ वर्षो के बाद भी उनकी कविता में एक स्त्री के संघर्ष की यातनाभरी गूँज हमें आन्दोलित करती है और कहीं गहरे में विचलित भी। एक प्रसिद्ध 'वचन' का एक छोटा-सा टुकड़ा इस स्त्री सर्जक की पीड़ा और आक्रोश को एक साथ व्यक्त करता है– 'तुम खिंचे चले आए हो/उन्नत उरोजों/और भरे-पूरे यौवन को देखकर' एक स्त्री महज एक स्त्री नहीं, बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक वास्तविकता का एक अविच्छिन्न हिस्सा है। अक्का महादेवी की कविता, पूरे भारतीय साहित्य में इस मूलभूत क्रान्तिकारी चेतना का पहला सर्जनात्मक दस्तावेज है और सम्पूर्ण स्त्रीवादी आन्दोलन के लिए एक अजस्र प्रेरणास्रोत भी।'

वीरशैव आन्दोलन ने मनुष्यता, अहिंसा, करुणा और समानता के सिद्धान्तों पर आधारित समाज रचना का स्वप्न देखा और उसे पूरा किया। यह आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन की नवोन्मेषी अवधारणाओं पर खड़ा हुआ था, जिसमें संस्कृति और परम्परा के नाम पर प्रचलित समूची भ्रान्तियों, अन्धास्थाओं और जड़ताओं को ख़ारिज कर दिया गया और श्रम, स्वतन्त्रता एवं समाजवाद के सिद्धान्तों के आधार पर वर्णाश्रम मुक्त, जाति और भेदविहीन नयी समाज रचना प्रस्तावित की गयी। वीरशैवों ने एक ऐसे विश्व धर्म की वकालत की, जिसके केन्द्र में मनुष्य हो। सारी दुनिया में अहिंसा, शान्ति और करुणा को मानवीयता का अनिवार्य पहलू माना गया है। ये सभी एक-दूसरे को अनुप्राणित करते हैं, एक-दूसरे पर आश्रित हैं। मनुष्य निरन्तर इन्हीं लक्ष्यों की तरफ़ बढ़ने की कोशिश करता रहा है। यही वैश्विक नैतिकता का मूल तत्त्व है। इसके दो प्रमुख सिद्धान्त हैं, 'जियो और जीने दो' तथा 'मनुष्य की तरह रहो और दूसरों को भी वैसे ही रहने दो।' यही अहिंसा और परस्पर सहयोग के सिद्धान्त का मूल है। बसवण्णा कहते हैं, 'करुणा के बिना कोई धर्म सम्भव नहीं है। करुणा धर्म का मूल है और हर प्राणी के प्रति करुणा आवश्यक है।' वीरशैव दर्शन इसी अहिंसा और महाकरुणा पर आधारित आन्दोलन था।

सहायक ग्रंथ

1.दिगम्बर विद्रोहिणी अक्क महादेवी- सुभाष राय, सेतु प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2024। **2.** तेजस्विनी अक्का महादेवी के वचन- गगन गिल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2023। **3.** दक्षिण की देवी अक्क महादेवी, सुभाष राय, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 232, मार्च-अप्रैल 2024, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली। **4.** कब्रिस्तान में पंचायत-- केदारनाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2016। **5.** कन्नड़ साहित्य का इतिहास, रं. श्री. मुगलि, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1971। **6.** हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आंदोलन का तुलनात्मक अध्ययन– डॉ. हिरण्मय, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण 1959। **7.** भक्तिभण्डारी बसवेश्वर के वचन– सम्पादन डॉ. एम. एस. सुंकापुर एवं डॉ. एम. बि. कोट्टशेट्टी, कन्नड़ अध्ययनपीठ कर्नाटक विवि, धारवाड़, प्रथम संस्करण 1976। **8.**भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश (भाग-2)- रामविलास शर्मा, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2020। **9.** कालजयी कवि और उनका काव्य : अक्क महादेवी- माधव हाड़ा, राजपाल एंड संस, दिल्ली, प्र. सं 2024।

❏❏

–सहायक आचार्य,
हिन्दी विभागाध्यक्ष, उमेशचन्द्र कॉलेज,
13, सूर्यसेन स्ट्रीट, कोलकाता-700012
मो. 9450181718

संस्कृत रूपकों में प्रकरण विधा

सुदर्शन कुमार

संस्कृत साहित्य में अभिनय प्रदर्शन के स्रोत वैदिक काल से ही प्राप्त होते हैं। वेदों में स्थित संवाद सूक्तों में इस कला के स्पष्ट दर्शन होते हैं। परिशीलन से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि रामायण और महाभारत काल में इस मनोरम कला की ओर लोगों की पर्याप्त रुचि हो चुकी थी।[1] वे इस कला से अच्छी तरह परिचित हो चुके थे। वाल्मीकि रामायण के अनुसार राजविहीन जनपद में 'नट' और 'नर्तक' प्रसन्न नहीं दिखाई देते थे। इसमें नटों द्वारा सामाजिकों के मनोरंजन का उल्लेख है-

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः।[2]

नटसूत्रों की प्रामाणिकता का स्पष्ट उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में है–

पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः।[3] *कर्मन्दकृशाश्वादिनिः।*[4]

नाट्योत्पत्ति एवं विकास–

नाटक की उत्पत्ति कैसे हुई? इसका स्पष्ट प्रमाण हमें आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' में प्राप्त होता है। जब इन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्मा से कहा- हम मनोविनोद का ऐसा एक साधन चाहते हैं, जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी–

महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्।।[5]

तब ब्रह्मा ने चारों वेदों का ध्यान करके नाट्यवेद की उत्पत्ति की–

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतिमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।[6]

अर्थात् ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यवेद नामक पञ्चम वेद की रचना की। सर्वप्रथम 'त्रिपुरदाह' तथा 'समुद्र मंथन' नाटकों का अभिनय किया गया। नाट्य को समस्त कलाओं का विश्वकोष कहा जाता है, क्योंकि नाट्य में ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग इत्यादि समस्त विषयों का संकलन किया गया है, जो जनमानस के लिए उपादेय तथा ग्राह्य है–

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।[7]

साहित्य के सभी प्रकारों में रूपक या नाट्य श्रेष्ठ माना गया है। इसकी रचना को कवित्व की अंतिम सीमा कहा जाता है- नाटकान्तं कवित्वम्। वामन ने काव्यालंकारसूत्र में कहा है- संदर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। कारण यह है कि यह चित्रपट के समान अनेक विशिष्टताओं से युक्त

है। इतनी विशिष्टताएं अन्य काव्य भेदों में प्राप्त नहीं होती हैं। रूपक में गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण तो रहता ही है, इसे सुनने के अतिरिक्त देखा जाता है। श्रव्य की अपेक्षा 'दृश्य' का अधिक सघन प्रभाव होता है। भारतीय रूपकों का उद्देश्य केवल उपदेश देना, संवादों के द्वारा किसी घटनाक्रम का निरूपण करना या विषय की स्थापना मात्र नहीं है। अपितु अभिनय के विभिन्न प्रकारों से सामाजिक (प्रेक्षक या दर्शक) को रसास्वाद कराना (आनंद में निमग्न करना) इसका महत् उद्देश्य है।

भरत ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि इस नाट्य संसार में सब कुछ रसमय होता है, रस के बिना यहाँ कुछ भी प्रवृत्त नहीं होता– *न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।*[8]

कोई व्यक्ति किसी भी रुचि का क्यों ना हो, उसे अपना अनुकूल विषय नाट्य-जगत् में अवश्य मिल जाएगा। इसलिए कालिदास ने इसकी प्रशंसा में कहा है- - *नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।*[9]

रूपक और उसके भेद-प्रभेद–

'कवेः कर्म इति काव्यम्' अर्थात् कवि का कर्म (रचना) काव्य कहा जाता हैं। संस्कृत साहित्य की सुदीर्घ परम्परा में काव्य पर विशद विवेचन प्राप्त होता है। काव्य को संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने दृश्य और श्रव्य के रूप में दो भागों में रखा है। दृश्य काव्य के दो भेद हैं- रूपक तथा उपरूपक। रूपक दस और उपरूपक अठारह प्रकार के होते हैं। रूपकों का एक प्रमुख भेद नाटक है, जो अपने अर्थ का विस्तार करके सामान्यतः आधुनिक भारतीय भाषाओं में नाट्यमात्र या दृश्यकाव्य मात्र का अर्थ देता है। इसलिए यह 'नाटक' शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रचलित है। यद्यपि संस्कृत में एक सीमित अर्थ परिधि में आता है। इस प्रसंग में धनञ्जय ने नाट्य, रूप, रूपक इन तीन शब्दों के प्रयोग के हेतुओं का निरूपण किया है, जो वस्तुतः एकार्थक है। तदनुसार विविध पात्रों की अवस्थाओं का चतुर्विध अभिनय (आंगिक, वाचिक, सात्विक तथा आहार्य) के द्वारा जब नट अनुकरण करता है तो इसे 'नाट्य' कहते हैं। नाटक को देखा जाता है अर्थात रूप के समान यह चक्षुरिन्द्रिय का विषय है, अतएव इसे 'रूप' भी कहते हैं। अभिनेता द्वारा रामादि पात्रों की विविध अवस्थाओं का आरोप होने से उसी नाट्य या रूप को शास्त्रीय दृष्टि से 'रूपक' कहते हैं। कविराज विश्वनाथ ने काव्य के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन करते हुए काव्य को दृश्य तथा श्रव्य दो भागों में रखा हैं। दृश्यकाव्य को उन्होंने रूप, रूपक और नाट्य भी कहा हैं-

दृश्यं तत्राभिनेयम्-तद्रूपारोपात् रूपकम्।[10]

आरोप ही रूपक है। जैसे मुख पर चन्द्र का आरोप होने से 'मुखचन्द्र' में रूपकालंकार है। ये रूपक रसाश्रित होते हैं, केवल भाव पर आश्रित नहीं रहते। इसी प्रकार धनञ्जय ने दशरूपक में रूपक के भेदों का वर्णन करते हुए दस भेद किये हैं– *अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते। रूपकं तत्समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम्।।*[11] *नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः। व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति।।*[12]

अर्थात रूपक के दस भेद हैं– नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग। साथ ही 18 प्रकार के उपरूपकों का नाम भी लक्षण ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत का रूपक साहित्य विशाल, व्यापक तथा नाना रूपात्मक था।

रूपक के दस भेद वस्तु, नेता तथा रस के आधार पर किए जाते हैं, जो कि रूपकों को एक-दूसरे से भिन्न करने वाले तीन तत्व हैं–

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः।[13]

'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कथनानुसार काव्य जगत में संस्कृत रूपकों में नाट्यविधा की रमणीयता के कारण अत्यधिक संस्कृत नाटकों की रचना हुई हैं। किन्तु प्रकरण विधा पर अत्यल्प कृतियाँ प्राप्त होती हैं। नाट्य की इस दूसरी विधा का प्रारंभ अश्वघोषकृत शारिपुत्र प्रकरण से माना जाता है।[14] शूद्रककृत मृच्छकटिकम् इस उर्वर परम्परा का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसकी विशेषता है कि इसकी कथावस्तु उत्पाद्य होती है। इसके प्रमुख पात्र अभिजात्य वर्ग के ना होकर श्रीमन्तवर्ग के

प्रतिनिधि मध्यम कोटि के होते हैं।[15] डॉ. ए. वी. कीथ का कथन है कि इस विधा में परवर्ती नाटककारों को कठिनाई प्रतीत हुई और इसको आगे गति न मिल सकी।[16] परन्तु संस्कृत साहित्य का अनुशीलन करने पर प्रतीत होता है कि प्रकरण विधा को गति तो मिली, लेकिन अपेक्षाकृत कम। डॉ. वी. राघवन ने अपने शोध निबंध में विशाखादत्त, ब्रह्मयशस्विन आदि प्रकरणकारों का नाम उल्लेख किया है जो दुर्भाग्यवश काल कवलित हो चुके हैं।[17] नाट्यदर्पण में भी रामचन्द्र ने शुक्तिवास कुमार कृत अनंगसेनाहरिनन्दि प्रकरण, शंकुककृत चित्रोत्पलावलम्बिदकं प्रकरण, कविकृत तरंगदत्त प्रकरण तथा स्वोपज्ञ तीन प्रकरणों का उल्लेख किया है– मल्लिकामकरन्द, कौमुदीमित्रानन्द और रोहिणीमृगांक प्रकरण।[18]

प्रकरण शब्द व्युत्पति–

प्रकरण शब्द प्र उपसर्गपूर्वक कृ धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है प्रकृष्ट या उत्कृष्ट रचना।

प्रकरण लक्षण–

आचार्य भरतमुनि ने प्रकरण को परिभाषित करते हुए कहा है कि जब कवि अपने सामर्थ्य विशेष के द्वारा वस्तु, नायक आदि की पूर्णतः कल्पना करे तो उसे विद्वानों को प्रकरण समझना चाहिए–

यत्रकविरात्मशक्त्या वस्तुशरीरं च नायकं चैव।
औत्पत्तिं प्रकुरूते प्रकरणमिति यद् बुधैर्ज्ञेयम्।।[19]

आचार्य धनञ्जय ने दशरूपक के तृतीयप्रकाश में प्रकरण का लक्षण इस प्रकार दिया है–

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्य लोकसंश्रयम्।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम्।।[20]
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम्।
शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम्।।[21]

अर्थात प्रकरण में लोक स्तर का कवि कल्पित इतिवृत तथा अमात्य, विप्र और वणिक् में से कोई एक नायक रखना चाहिए, जो धीरप्रशान्त हो एवं धर्म, काम और अर्थ में तत्पर हो, किन्तु उसकी कार्यसिद्धि विघ्नों से युक्त हो। प्रकरण में शेष संधि, प्रवेशक और रस नाटक के समान ही रखना चाहिए।

प्रकरण रूपकों की कथावस्तु उत्पाद्य होकर भी यथार्थता से संपृक्त होती है। कवि द्वारा निम्नकोटि पात्रों के माध्यम से जीवन की वास्तविक झलक प्रस्तुत की जाती है। कविराज विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में प्रकरण का लक्षण देते हुए कहा कि प्रकरण में कथानक लौकिक, कवि कल्पित होता है, शृंगार रस मुख्य होता है, नायक ब्राह्मण, अमात्य अथवा वैश्य से युक्त धर्म, काम और अर्थ में आसक्त धीरप्रशान्त होता है।

'भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।।[22]
श्रृगारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्।
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः।[23]

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्रसूरि ने प्रकरण को स्पष्ट करते हुए कहा है–

प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते नेता फलं वस्तु वा
समस्त-व्यस्ततयाऽत्रेति प्रकरणम्।[24]

अर्थात प्रकरण वह विधा है जिसमें नायक, कथावस्तु तथा इसका फल समष्टिगत अथवा व्यष्टि रूप में कल्पित किए जाते हैं, वह प्रकरण कहलाता है।

प्रकरण परम्परा– संस्कृत साहित्य की विभिन्न पुस्तकों के अध्ययन उपरान्त निम्न प्रकरण प्राप्त हुए, जो इस प्रकार हैं–

शारिपुत्रप्रकरणम्– अश्वघोष द्वारा रचित इस प्रकरण की प्राप्ति लूडर्स महोदय को मध्यएशिया के तूर्फान नामक स्थान से हुई। इनका समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी कनिष्क के समकालीन बताया जाता है। इसमें अंकों की अनुमानित संख्या नव है। इसका अन्य अभिधान 'शारद्वतीपुत्र-प्रकरण' भी है। शारिपुत्र प्रकरण का कथानक प्रमुख रूप से शारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन को बुद्ध द्वारा बौद्ध धर्म में दीक्षित करना है। यह प्रकरण नाट्यशास्त्रीय नियमों के अनुसार रचित है। शारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन धीरप्रशांत श्रेणी के विप्र हैं। नायिका का चित्रण एक आदर्श स्त्री के रूप में हुआ है। इसकी भाषा संस्कृत तथा प्राकृत प्रयुक्त है। इसका प्रमुख रस शृंगार

है, जिसमें करुण एवं हास्य के पुट अधिक हैं।

अविमारकम्– यह छह अंकों का प्रकरण भास प्रणीत है। इसका कथानक कल्पित होने से यह प्रकरण की कोटि में आता है। इसका नायक राजकुमार अविमारक है, जो ऋषि के शाप से अंत्यज बन गया है। अविमारक का वास्तविक नाम विष्णुसेन है। वह काशीराज की रानी सुदर्शना का पुत्र है, जिसे शैशव में ही माता ने अपनी बड़ी बहन तथा सौबीरराज की पत्नी सुचेतना को सौंप दिया था।

दरिद्रचारुदत्तम्– भासकृत यह चार अंकों का अपूर्ण रूपक है। शूद्रक कृत मृच्छकटिकम् के प्रथम चार अंकों के लगभग सभी संवाद और कथायोजना इस रूपक से साम्य रखती है। या तो किसी परवर्ती कवि ने मृच्छकटिक के प्रथम चार अंकों को सरल बनाकर उनमें से राजनीतिक से संबद्ध कथांश निकाल कर अभिनय आलेख तैयार किया अथवा मृच्छकटिककार ने इस रूपक को आधार बनाकर एक बड़ा प्रकरण लिखा– यह भी संभव है।

मृच्छकटिकम्– यह शूद्रक की रचना है, जिसका समय तृतीय सदी ईसा पूर्व माना जाता है। यह एक उच्चकोटिक सामाजिक प्रकरण है। इसमें दस अंकों में वसंतसेना और चारुदत्त की प्रणय कथा का वर्णन है; साथ ही प्रासंगिक कथा के रूप में आर्यक द्वारा पालक को मारकर राज्य प्राप्ति का वर्णन प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र की दृष्टि से मृच्छकटिकम् एक संकीर्ण कोटि का प्रकरण है। इसकी कथा दस अंकों में पल्लवित है। चारुदत्त सार्थवाह इसका नायक और गणिका वसन्तसेना नायिका है। उज्जयिनी के राजा पालक को गोपालदारक आर्यक द्वारा सत्ताच्युत करने की घटना भी पताका के रूप में आधिकारिक वृत्त के साथ-साथ आगे बढ़ती है।

मालतीमाधवम्– भवभूति ने मालतीमाधव नामक प्रकरण की रचना की है। इसका समय सातवीं शताब्दी माना जाता है। इसमें दस अंक हैं। पद्मावती के राजा का मंत्री भूरिवसु है। उसकी मालती नामक एक कन्या है। विदर्भ के राजा का मंत्री देवराज भूरिवसु का मित्र है। भूरिवसु ने कामन्दकी को अपनी कन्या के विवाह की व्यवस्था हेतु कहा था जो कि भिक्षुणी हो चुकी है। देवराज ने अपने पुत्र माधव को पद्मावती भेज दिया, उसे लगा कि भूरिवसु को याद होगा कि दोनों ने परस्पर संततियों के विवाह का प्रस्ताव रखा था। इधर राजा का नर्मसुहृद् नन्दन है, जो मालती से विवाह करने को तत्पर है।

तरंगदत्तम्– इस प्रकरण का उल्लेख दशरूपक के टीकाकार डॉ. श्रीनिवास शास्त्री ने किया है। साथ ही अवलोकटीका, भोज रचित श्रृंगारप्रकाश, शारदातनय के भावप्रकाशन में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। इसका समय 950 ई. है तथा नायिका वेश्या है।

पुष्पदूषितकप्रकरणम्– इस प्रकरण का उल्लेख विश्वनाथ रचित साहित्यदर्पण के टीकाकार सत्यव्रत सिंह ने किया है। साथ ही दशरूपकावलोक, नाट्यदर्पण में भी उल्लेख प्राप्त होता है।

मुद्रितकुसुमचन्द्रप्रकरणम्– धनदेव के पौत्र तथा पद्मचन्द्र के पुत्र यशश्चन्द्र की रचना है। यह प्रकरण एक विख्यात धार्मिक शास्त्रार्थ का अवलम्बन कर लिखा गया है, जो 1124 ईस्वी में श्वेताम्बर मुनि देवसूरि और दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्र के बीच हुआ था। इसमें कुमुद-चन्द्र का मुखमुद्रण हो गया, इसलिए इस रूपक का यह नाम रखा गया।

कौमुदीमित्रानन्द– जैन संस्कृत प्रमुख नाटककारों में लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार एवं प्रबंधशतकर्ता सुप्रसिद्ध जैनाचार्य रामचन्द्रसूरि का महत्वपूर्ण स्थान है। 12वीं शताब्दी में आचार्य रामचन्द्रसूरि ने तीन प्रकरणों की रचना की। यह दस अंकों में उपनिबद्ध एक सामाजिक प्रकरण है। इसका नायक वणिक्, धीरप्रशांतकोटिक है। नायिका कुलपति की कन्या मध्यमगोत्राङ्गना है। दास, विट आदि विभिन्न पात्रों की योजना है। क्लेशाढ्यता यह सर्वत्र प्रकरण में दृष्टिगोचर होता है। प्रारंभ से ही मित्रानन्द जहाज के डूबने के कारण विभिन्न संकटों से ग्रस्त दिखाई देता है। केवल सुखद क्षण अंत में दिखाई देते हैं। इसमें कौतुक नगर वासी धनाढ्य वणिक जिनसेन के पुत्र

मित्रानन्द और एक आश्रम के कुलपति की कन्या कौमुदी के मध्य प्रणय व्यापार का वर्णन है। इसे कौमुदी नाटक भी कहा जाता है। इसकी कथा दण्डी के 'दशकुमारचरितम्' जैसी है। समय 1173-1176 ई.।

मल्लिकामकरन्द– इसकी प्रस्तावना में नाटककार ने इसे नाटक कहा है, किन्तु रामचन्द्रसूरि ने अपने नाट्यदर्पण में इसे प्रकरण ही कहा है 'यथा वास्मदुपज्ञे मल्लिकामकरन्दे प्रकरणे' इसकी कथावस्तु नितान्त काल्पनिक होने से यह भी एक सामाजिक प्रकरण ही है। इसमें मात्र 6 अंक हैं। इसकी कथावस्तु में षोडशी नायिका मल्लिका तथा नायक मकरन्द के प्रेम, विरह और विवाह का कथानक वर्णित है, जो भवभूति के मालतीमाधव के अनुरूप विरचित है। मल्लिकामकरन्द की मूल कथा मिश्रित है। मूल रूप से यह कथासरित्सागर में उपलब्ध है, किन्तु विभिन्न घटनाओं का सन्निवेश कवि की अपनी मूल कल्पना है। क्लेशाढ्य, धीरप्रशांत, वणिक नायक पर आधारित यह प्रकरण है। व्यसनी नायक को सन्मार्ग पर प्रवृत्त करने में कवि पूर्णतया सफल रहा है। इसका फल और नायक दोनों कल्पित हैं।

रोहिणीमृगाङ्क– यह रामचन्द्रसूरि का प्रकरण है, जो अद्यावधि अनुपलब्ध है। नाट्यदर्पण में दो स्थलों पर नाटककार ने इस कृति का उद्धरण दिया है। प्रकरण होने के कारण इसकी कथावस्तु कल्पनाजन्य है। इसमें संभवतः नायक मृगांक एवं नायिका रोहिणी के प्रेम परिपाक का वर्णन हो सकता है। प्रकरण की परिभाषानुसार इसमें रोहिणी नायिका है और मृगांक नायक। नायक को अनेक क्लेश उठाने के पश्चात् नायिका मिली होगी। नायक का मित्र वसन्तक विदूषक प्रतीत होता है। क्लेशों की परिणति नायिका मिलन में होगी, यह नायिका की प्रवृत्तियों के आधार पर प्रथम अंक में संकेत करता है।

प्रबुद्धरोहिणेयम्– प्रस्तुत नाटक में छः अंक हैं। इसके रचयिता प्रसिद्ध तार्किक देवसूरि (वि.सं. 1226 में मृत्यु) सन्तानीय जयप्रभसूरि के शिष्य रामभद्र मुनि हैं। इनका समय 12वीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना गया है। यह पुस्तक जैन आत्मानन्द ग्रन्थालय, भावनगर से 1917 में प्रकाशित है। कवि स्वतन्त्रता का प्रबल पक्षधर था। नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है- रोहिणेय का पिता लोहखुर नामक एक डाकू था। मृत्युकाल के समय उसने अपने पुत्र (रोहिणेय) से कहा था कि महावीर की वाणी तुम्हारे कर्णकुहरों में प्रवेश न करे, क्योंकि वह वाणी हमारे कुलाचार को विनष्ट कर देने वाली है। इसमें रोहिणेय के सन्मार्ग पर प्रवृत्त होने का कथानक वर्णित है।

मल्लिकामारुतम्– इस प्रकरण में 10 अंक हैं। यह उद्दण्ड कवि द्वारा रचित है, जो वस्तुतः केरल में कालीकट के राजा की सभा के पण्डित थे और 16वीं शताब्दी के मध्य भाग में विद्यमान थे। इसका कथानक भवभूति द्वारा रचित मालतीमाधव के समान है। इस प्रकरण का उल्लेख संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास डॉ. कपिल द्विवेदी द्वारा रचित पुस्तक की पृष्ठ-संख्या 445 पर प्राप्त होता है। इसका प्रकाशन जीवानन्द विद्यासागर द्वारा 1878 में कलकत्ता से किया गया।

चन्द्रप्रभाविजयप्रकरणम्– इस प्रकरण के रचयिता जैनमुनि हेमचन्द्र के शिष्य देवचन्द्र हैं। इसमें आठ अंक हैं, इसका समय 1150 ई. है।

अविन्द्रचन्द्रप्रकरणम्– ले. जगन्नाथ रचनाकार। समय 17वीं सदी का अंतिम चरण। इसका प्रथम अभिनय फतेहशाह की राज्यसभा में हुआ। अंक संख्या 7 हैं। पुरुष पात्र 5, स्त्री पात्र 13, श्रृंगार के साथ अद्‌भुत रस का भी प्रयोग। प्रणय प्रसंगों में वैदर्भी रीति तथा माधुर्य गुण। यह 17 वीं सदी का एकमात्र उपलब्ध प्रकरण है। इसकी प्रति भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे में है। कथानक में दो नायक हैं– चन्द्र तथा सागर। नायिका चन्द्रिका तथा चन्द्रकला। चन्द्र का प्रतिनायक विमूढ़, तामिस्रा का पुत्र है। यह विवरण संस्कृत वाङ्गमय कोष के द्वितीय खंड जिसका संपादन श्रीधरभास्कर वर्णेकर द्वारा तथा प्रकाशन भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता द्वारा किया गया।

राजहंसीयप्रकरणम्– यह प्रकरण नरसिंहाचार्य स्वामी द्वारा रचित है। इस पुस्तक का उल्लेख रामजी उपाध्याय द्वारा लिखित संस्कृत नाटक की पृष्ठ-संख्या

611 पर प्राप्त होता है।

कौतुकसर्वस्यप्रकरणम्– यह प्रकरण 17वीं शताब्दी में गोपीनाथ चक्रवर्ती द्वारा रचित है। इसमें कुल दो अंक हैं। इसमें कविवत्सल नामक राजा द्वारा सत्याचार नामक ब्राह्मण पर किये अत्याचार का वर्णन है। इस पुस्तक का उल्लेख संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास के पृष्ठ 486 पर प्राप्त होता है।

कामदत्तप्रकरणम्– यह प्रकरण प्राभृतक शूद्रक की रचना है। इसका उल्लेख पद्मप्राभृतक तथा सागरनन्दी द्वारा किया गया है।

कौमुदीसुधाकरप्रकरणम्-- यह प्रकरण चन्द्रकान्ततर्कालङ्कार द्वारा रचित है। प्रकाशन 1938 में कलकत्ता से हुआ।

अनार्कली– यह प्रकरण डॉ. वी. राघवन की प्रारंभिक रचना है, जिसका प्रणयन 1931 में हुआ। इसका प्रकाशन द संस्कृत गंगा मद्रास द्वारा 1972 में हुआ। इस प्रकरण का उल्लेख प्रो. रामजी उपाध्याय द्वारा रचित संस्कृत नाटक की पृष्ठ संख्या 92 से 94 तक पर प्राप्त होता है।

काञ्चनकुञ्जितम्– विष्णुपद भट्टाचार्य द्वारा लिखित यह प्रकरण 1959 ईस्वी में मञ्जूषा नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इस प्रकरण को वसन्तोत्सव पर प्रथमतया अभिनीत किया गया। इसमें कुल 9 अंक हैं।

आदिकाव्योदयम्- यह प्रकरण महालिङ्गा शास्त्री द्वारा लिखित है। इसका प्रणयन 1942 ई. में हुआ था। इसके कथानक में कोई दिव्यांगना स्त्री दो बालकों को वाल्मीकि के संरक्षण में लेकर आती है।

प्रकरण ग्रन्थों का वर्ण्य-विषय यद्यपि कल्पनाप्रसूत होता है, किन्तु इनमें तात्कालिक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक इत्यादि परिस्थितियों का जीवन्त चित्रण होता है।

संदर्भ

1. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी, 2015, पृ. 465। **2.** वाल्मीकि रामायण, 2/67/15। **3.** पाणिनीय सूत्र, 4/5/110। **4.** वही, 4/5/111। **5.** भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1964, 1/11। **6.** वही, 1/17। **7.** वही, 1/116। **8.** वही, 6/32। **9.** मालविकाग्निमित्रम्, 1/4। **10.** विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1993, 6/1। **11.** धनञ्जय : दशरूपक, साहित्य भण्डार, मेरठ, द्वादश संस्करण, 2003, 1/7। **12.** वही, 1/8। **13.** वहीं, प्रथम प्रकाश, पृ. 12। **14.** ए.बी. कीथ : संस्कृत नाटक, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1965, पृ. 88। **15.** अयोध्या प्रसाद सिंह : भवभूति और उनकी नाट्यकला, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, पृ. 194। **16.** ए. बी. कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ. 257। **17.** V. Raghvan: The social play in Sanskrit, the Indian institute of World culture, Bangalore, 1966. **18.** रामचन्द्रगुणचन्द्र, सम्पादक डॉ. नगेन्द्र : नाट्यदर्पण (भूमिका), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1990, पृ. 38-45। **19.** भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, 18/48। **20.** धनञ्जयः दशरूपकम्, 3/39। **21.** वही, 3/40। **22.** विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, 6/2। **23.** वही, 6/225। **24.** रामचन्द्रगुणचन्द्र, डॉ. नागेन्द्र द्वारा सम्पादित, नाट्यदर्पण, द्वितीय विवेक, पृ. 203।

❑❑

शोधकर्ता
मो. 9461626993
डॉ. मुरलीधर पालीवाल (शोध निदेशक)
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का स्वरूप

डॉ. सिद्धार्थ सिंह

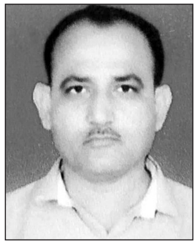

शोध-प्रतिपाद्य सारांश- पूर्वमध्यकाल का समय सामान्य रूप से 700 ई. से 1200 ई. तक निर्धारित किया गया है। यह प्राचीन काल तथा मध्यकाल के बीच संक्रमण का समय था। इस समय अनेक प्रकार के सामाजिक परिवर्तन हुए जिसने भारतीय अर्थव्यवस्था में परिवर्तन सुनिश्चित करने के साथ-साथ जीवन के विविध पक्षों को प्रभावित किया। इस समय जातियों की संख्या में गुणात्मक वृद्धि हुई। वैश्य वर्ण का पतन तथा शूद्र वर्ण की स्थिति में सुधार हुआ। महिलाओं की स्थिति में गिरावट आई। सामन्तवाद का उदय एवं कृषि आधारित अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ। इस समय चतुर्वर्ण्य व्यवस्था पर आश्रित समाज में जटिलता आई, नवीन वर्ण की उत्पत्ति हुई तथा समाज में वर्णसंकर जातियों की संख्या में अधिकाधिक वृद्धि हुई, जिन्हें शूद्र वर्ण में स्थान मिला। भूमि अनुदान के कारण सामन्तवर्ग, राजशाही एवं आर्थिक शक्तियों के गठबन्धन ने भूमि के असमान वितरण और फिर आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को जन्म दिया। लगातार भूमि अनुदान से सामन्तवाद को विस्तार मिला तथा सामन्तों की महासामन्त, उपसामन्त जैसी कई श्रेणियां तथा उपश्रेणियाँ विकसित हुईं।

इस शोध आलेख में पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के विभिन्न स्वरूप तथा तत्कालीन समाज पर उनके प्रभाव का सम्यक विवेचन करने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द : *पूर्वमध्यकाल, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सामन्त, सामन्तवाद, भूमि, कृषि, स्त्री, विकेन्द्रीकरण, जाति, उपजाति, समाज।*

पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज राजनीतिक अशान्ति, विकेन्द्रीकरण तथा लगातार हो रहे मुस्लिम आक्रमण से व्यथित था। 6वीं से 8वीं शताब्दी के बीच मध्यम वर्ग की निर्धनता, आर्थिक अवनति, नगरों का विघटन तथा पतन स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। एस.के. मैती महोदय ने गुप्त शासक स्कन्दगुप्त के सोने के सिक्कों में मिलावट के आधार पर इस काल को, लगातार हो रहे हूण आक्रमण के कारण, आर्थिक पतन तथा राजनीतिक रूप से अस्थिरता का समय माना है।[1] हर्षवर्द्धन के समय आने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग ने नगरों व कस्बों में गरीबी का वर्णन किया है। इस समय श्रेणियों की मुद्राओं का अभाव आर्थिक दृष्टि से नगरों तथा व्यापार-वाणिज्य के पतन के ही संकेतक हैं। रामशरण शर्मा ने 6वीं शताब्दी से विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को रेखांकित किया है। इन्होंने सामन्तवाद की प्रवृत्ति के उदय तथा विकास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण मन्दिरों तथा ब्राह्मणों को भूमि अनुदान देना बताया है।[2] गुप्तकाल से भूमि

अनुदान प्राप्तकर्ता को प्रशासनिक एवं राजस्व सम्बन्धित अधिकार मिलने के साथ-साथ निजी शासन क्षेत्र का निर्माण हुआ जिससे विकेन्द्रीकरण की दशा का स्वाभाविक रूप से विकास हुआ। अब विविध कारणों से (प्रशासनिक, क्षेत्रीय अधिकार तथा उपाधि वंशानुगत हो जाने से) सामन्तवाद की प्रथा मजबूत होती गई तथा केन्द्रीय सत्ता कमजोर व असुरक्षित होती गई। इस समय समाज कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था की तरफ अग्रसर होता गया। अब ग्राम समुदाय बन्द इकाई के रूप में परिवर्तित हो गए तथा सामन्तवाद के विकास के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित हो गया। अब व्यापार-वाणिज्य के पतन, मुद्राओं के अभाव के कारण शासक वर्ग अपने अधीनस्थ अधिकारियों तथा सैनिकों को विविध प्रकार की सेवाओं के पारिश्रमिक के रूप में भूमि/जागीर प्रदान करने को विवश हुए।[3] स्थानीयता की बढ़ती प्रवृत्ति तथा विकेन्द्रीकरण में तेजी के परिणामस्वरूप अब राजा के अधिकार भी सीमित हो गए।[4] बुद्धघोष ने ब्राह्मणों द्वारा अनुदानित बस्तियों में न्यायिक तथा प्रशासनिक अधिकार भी निहित माना है। गुप्त युग में सर्वाधिक भूमि अनुदान के प्रचलन के कारण अनेक ब्राह्मण सामन्तों का जन्म हुआ, जो स्वतन्त्र रूप से अनुदान प्राप्त क्षेत्रों में शासन चलाते थे।[5] इस प्रकार भूमि अनुदान के कारण राजनीतिक अस्थिरता तथा विकेन्द्रीकरण का प्रभाव बढ़ता ही गया। निश्चित रूप से 7वीं शताब्दी से सामन्तवाद का विकास पूर्वमध्यकालीन भारत की प्रमुख घटना थी।[6] सामन्तवाद के उत्थान ने परम्परागत चतुर्वर्ण्य व्यवस्था को प्रभावित किया। प्रो. बी.एन.एस. यादव के अनुसार- पूर्वमध्यकाल में हम सामाजिक स्तरीकरण की दो धाराओं को समानान्तर चलते हुए पाते हैं। एक तरफ जहां समाज के उच्च कुलीन वर्ग द्वारा वर्ण व्यवस्था के नियमों को कठोरतापूर्वक लागू करने का प्रयास किया गया, वहीं दूसरी तरफ इस समय के व्यवस्थाकारों ने विविध जातियों एवं वर्गों के मिश्रण से निर्मित शासक तथा सामन्त वर्ग को वर्ण व्यवस्था में शामिल कर आदर्श एवं यथार्थ के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया।[7] कालबर्न महोदय के अनुसार सामन्तवाद के विकास से जाति प्रथा के बन्धन ढीले पड़ गए तथा समाज के निम्न व उच्च वर्ग के बीच की खाई कम होती गई, क्योंकि सामन्त किसी भी जाति का हो सकता था, किन्तु कालबर्न का मत पूर्ण रूप से सत्य नहीं है, क्योंकि भारतीय समाज में सामन्तवाद का विकास चतुर्वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत ही हुआ।[8] इस समय वैश्य वर्ण की स्थिति में पतन आया तथा उनकी स्थिति शूद्रों के समकक्ष हो गई जो कि तत्कालीन समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन था। हर्षवर्द्धन के समय से कृषि क्षेत्र में वैश्यों का योगदान समाप्त हो गया तथा इसमें शूद्रों की प्रमुखता बढ़ती गई।[9] स्कन्दपुराण में वैश्यों की पतनोन्मुख दशा का वर्णन है। अलबरूनी ने भी वैश्य एवं शूद्र वर्ण में कोई खास अन्तर नहीं पाया। 11वीं से 13वीं शताब्दी में राजस्थान, गुजरात तथा बंगाल जैसे स्थानों पर इनकी स्थिति में सुधार के प्रमाण भी मिलते हैं।[10] गुजरात में इनकी गणना सामन्त वर्ग में की जाने लगी। बंगाल में अनेक ऐसे समृद्ध व्यापारियों के उदय के प्रमाण मिलते हैं जिन्होंने 12वीं शताब्दी में सेन तथा गौड़ वंश के शासकों से संघर्ष किया।[11] पूर्वमध्यकाल में महिलाओं की स्थिति में गिरावट आई, इनके विवाह की आयु में कमी कर दी गई, शिक्षा के अधिकार भी सीमित कर दिए गए, सम्पत्ति विषयक अधिकार भी समाप्त कर दिया गया। पर्दा प्रथा तथा सती प्रथा का भी प्रचलन हुआ, जो कि महिलाओं की पतनोन्मुख सामाजिक स्थिति को दर्शाते हैं। यद्यपि कि उच्च सामन्तीय परिवार में स्त्रियों को कुछ सीमा तक शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार मिल जाता था। उदाहरणस्वरूप अवन्तिसुन्दरी, रानी दिद्दा, कुमार देवी का उल्लेख किया जा सकता है, परन्तु ऐसे वर्णन अपवादस्वरूप ही माने जाने चाहिए, सामान्य तौर पर महिलाओं की स्थिति में गिरावट ही देखी गई।

इस काल की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इस समय जातियों तथा उपजातियों की संख्या में सर्वाधिक वृद्धि हुई। परम्परागत चतुर्वर्ण भी अनेक उपजातियों में तितर-बितर हो गए। इस काल में शारीरिक श्रम करने वाली कई पेशेवर जातियों को अछूतों की श्रेणी में

शामिल कर लिया गया। 8वीं शताब्दी से ही भारतीय समाज पर इस्लाम धर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगा। इस्लाम में निहित समानता के सिद्धान्त ने परम्परागत विविधता पर आधारित चतुर्वर्ण व्यवस्था को कड़ी चुनौती दी। अब हिन्दी समाज में रूढ़िवादी प्रवृत्ति और बढ़ने लगी। इस युग के व्यवस्थाकारों ने इस परिस्थिति को कलियुग कहा। अब सामाजिक शुद्धता बनाए रखने के लिए खान-पान, विवाह तथा अस्पृश्यता सम्बन्धी नियम और कठोर कर दिए गए। अब समाज पूर्ण रूप से संकुचित हो गया। अन्तर्जातीय विवाह पूर्ण रूप से बन्द हो गए। विविध जातियों के बीच खान-पान प्रतिबन्धित हो गया। आपातकाल को छोड़कर ब्राह्मणों के लिए अन्य वर्णों के साथ भोजन करना प्रतिबन्धित कर दिया गया। अलबरूनी के वर्णन से पता चलता है कि जब दो ब्राह्मण भोजन करते थे तो अपने बीच में एक लकीर खींच लेते थे या कभी-कभी कागज का टुकड़ा भी रख लेते थे।[12] क्षेमेन्द्र के वर्णन से पता चलता है कि प्राच्य, दक्षिण तथा गौड़ के लोगों में यह भावना अधिक प्रचारित थी, वे अपने परिवार, रिश्तेदारों के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को छूते तक नहीं थे। ब्राह्मणों में कुछ इतने रूढ़िवादी थे कि वे बौद्ध तथा जैन धर्म स्वीकार कर लेने वाले को अनुचित दृष्टि से देखते थे। इस समय कलिवर्जय का सिद्धान्त प्रस्तुत कर विदेश यात्रा तथा विदेशियों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखना प्रतिबन्धित कर दिया गया। विविध जातियों तथा उपजातियों के आविर्भाव के कारण सामाजिक व्यवस्था और जटिल हो गई।[13] राम शरण शर्मा के अनुसार पूर्वमध्यकाल में बड़े पैमाने पर ब्राह्मणीकरण के कारण अछूत वर्ग की संख्या में सर्वाधिक वृद्धि हुई।[14] इन अछूतों को 'अन्त्यज' कहा गया, जो गाँव तथा नगरों की सीमाओं के बाहर रहते थे। इस काल में अस्पृश्यता सम्बन्धी नियम को अत्यधिक विस्तृत कर दिया गया। अछूत वर्ग में चाण्डाल प्रमुख थे। डोम एवं चर्मकार को भी अछूत वर्ग में शामिल कर लिया गया।

हेमचन्द्र की रचना देशीनाममाला से पता चलता है कि वे नगर के बाहर निवास करते थे तथा नगर के भीतर घुसने पर लकड़ी या छड़ी पीटते हुए चलते थे, जिससे लोग उनके सम्पर्क में आने से बच सकें। इस काल में अछूत की भावना में वृद्धि का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि विज्ञानेश्वर तथा अपरार्क ने बताया कि चाण्डाल की छाया मात्र पड़ने से व्यक्ति अपवित्र हो जाता है।[15] वस्तुतः इनके आचरण के कारण ही इन्हें अपवित्र माना जाता था। इस समय कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जिन्होंने जाति व्यवस्था की इस रूढ़िवादी प्रवृत्ति को मान्यता नहीं दी। 11वीं-12वीं शताब्दी में चार्वाक (बृहस्पति के शिष्य), बौद्ध, जैन आचार्य तथा शक्ति तान्त्रिक सम्प्रदाय ने कर्म को महत्व देते हुए जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था तथा इसके प्रतिबन्धों का विरोध किया। इन सभी ने ब्राह्मणों की जातिगत श्रेष्ठता, अहंकार की भावना की आलोचना की। बौद्ध ग्रन्थ लटकमेलक में जाति प्रथा तथा छुआछूत की निन्दा की गयी। 11वीं शताब्दी के जैन आचार्य अमितगति ने यह मत व्यक्त किया कि जाति का निर्धारण आचरण से होता है, जन्म से नहीं। शक्तितान्त्रिक, सिद्ध सम्प्रदायों ने इस जाति प्रथा का विरोध किया। चार्वाक ने भी जाति प्रथा की आलोचना की। दक्षिण भारत में लिंगायत सम्प्रदाय के आचार्य बसव ने समानता का उपदेश देते हुए जाति प्रथा का खण्डन किया।

निष्कर्ष - प्राचीन भारतीय इतिहास में लगभग 700 ई. से 1200 ई. का समय पूर्वमध्यकाल माना जाता है। इस काल में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के अनेक पहलू थे। इनमें सामन्तवाद का विकास, वर्ण व्यवस्था में कठोरता, नवीन वर्णों का उदय, जातियों-उपजातियों की संख्या में गुणात्मक वृद्धि, वैश्य वर्ण की स्थिति में गिरावट तथा शूद्र वर्ण की स्थिति में सुधार आदि प्रमुख हैं। इस काल में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों का मुख्य कारण ब्राह्मणों को दिया जाने वाला भूमि अनुदान था। इन अनुदानों को प्राप्त कर ब्राह्मणों का वर्चस्व शेष ग्रामीण समुदायों पर स्थापित हुआ। इससे कृषकों तथा अन्य निम्न वर्गों के प्रति शोषण को बढ़ावा मिला। इस काल के प्रारम्भिक चरण में व्यापार-वाणिज्य का पतन हुआ। अब अर्थव्यवस्था पूर्ण रूप से कृषि पर आश्रित

हो गयी। इस समय शिल्पी तथा व्यापारी एक ही स्थान पर रहने को विवश हुए एवं समय परिवर्तन के साथ उनका अपना पृथक वर्ग बन गया, जो कालान्तर में सामाजिक संकीर्णता के कारण जाति में बदल गए। इस युग में शिल्प को ही जाति का आधार मान लिया गया। अधिकांश शिल्पियों तथा शारीरिक श्रम करने वाले लोगों को शूद्र वर्ण में स्थान मिला। यही कारण है कि इस काल में शूद्र वर्ण की संख्या में सर्वाधिक वृद्धि देखी गई। इस काल की आर्थिक परिस्थितियों ने सामाजिक जीवन को प्रभावित किया। अब कलिवर्ज्य का सिद्धान्त प्रतिपादित कर विभिन्न जातियों के बीच खान-पान व अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। विदेश यात्रा करना तथा सामुद्रिक यात्रा के साथ-साथ विदेशियों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखना निषिद्ध कर दिया गया। इस काल में सामाजिकता बनाए रखने के लिए जाति तथा अस्पृश्यता सम्बन्धी नियम और कठोर कर दिए गए।

सन्दर्भ सूची

1. मैती, सचिन्द्र कुमार, इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया इन द गुप्त पीरियड, द वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता, 1970, पृ. 216। **2.** पान्थरी, राघवेन्द्र, प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2012, पृ. 13। **3.** यादव, बी.एन.एस., सोसाइटी एण्ड कलचर इन नार्दर्न इण्डिया इन द ट्वेल्थ सेन्चुरी, राका प्रकाशन, 2012, पृ. 141। **4.** थापर, रोमिला, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 2016, पृ. 199। **5.** शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, राजकमल प्रकाशन, 2019, अध्याय 1, पृ. 15। **6.** थापर, रोमिला, भारत का इतिहास, पृ. 163-164, मजूमदार, बी.पी., सोशियो-इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया (1030-1194 ए.डी.), मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1960, पृ. 9। **7.** यादव, बी.एन.एस., पूर्वोक्त, पृ. 174-175। **8.** श्रीवास्तव, कृष्ण चन्द्र, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो, प्रयागराज, 2015, पृ. 523। **9.** पांथरी राघवेन्द्र, प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन, वाणी प्रकाशन, 2012, पृ. 13। **10.** वही, पृ. 41।

11. श्रीवास्तव, के.सी., प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो, प्रयागराज, पृ. 424। **12.** अलबरूनीज (इण्डिया जिल्द), अल्बरूनीज हिन्दी संस्करण, नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली। **13.** श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र, पूर्वोक्त पृ. 523। **14.** शर्मा, रामशरण, पूर्व मध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृ. 23, पूर्व मध्यकालीन भारत का सामन्ती समाज और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, 2018। **15.** मजूमदार, भक्त प्रसाद, उत्तरी भारत का सामाजिक-आर्थिक इतिहास (1030-1194 ई.), के.एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1960, पृ. 19।

❑❑

असि. प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,
प्राचीन इतिहास,
टी.डी.पी.जी.कॉलेज,
जौनपुर-222002, उत्तर प्रदेश,
मो. 9415660424/ 9415311389

संगठन

- *संगठन के बिना न तो कोई आन्दोलन सफल हो सकता है और न किसी अच्छे हेतु का परिणाम निकल सकता है।*
- *संगठन का पाठ कोई चीटियों से सीखे।*
- *संगठन अच्छे कार्यों के लिए हो तभी इस शब्द की सुन्दर भावना कायम रह सकती है।*

श्रीमद्रामायण में आदिवासियों का परिचय

डॉ. एम. किषन

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।[1] इत्यादि वेद-मंत्रों के द्वारा ब्रह्मलोक आदि सभी लोकों की उत्पत्ति का ज्ञान होता है। हिरण्यगर्भ ने ही सृष्टि की रचना की यह उल्लेख वेद-पुराणों में देखने को मिलता है, परंतु यह भी वेदों से स्पष्ट है कि यह बात कोई नहीं जानता कि यह सृष्टि कहाँ से आई, कैसी थी तथा प्राणियों की प्रवृत्ति कैसी थी।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।।[2]

लेकिन वेदों तथा पुराणों से ही सृष्टि तथा प्राणियों के स्वरूप, स्वाभाविक तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ तथा विभिन्न संप्रदाय जाने जाते हैं। चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः[3] अर्थात् मनुष्यों में चारों वर्णो का विभाजन भगवान ने पहले ही कर दिया था, जो कि अभी तक विद्यमान है। किंतु चार वर्णों से भिन्न जातियों के नाम जो कि वेदों व पुराणों में देखने को नहीं मिलते, वे आजकल सुनाई देते हैं। अनुसूचित वर्ग के रूप में आदिवासियों का उल्लेख अद्यतन काल में देखने को मिलता है। चांडाल और चर्मकार आदि अनुसूचित वर्ग के अंतर्गत आते हैं। यह पूर्व विदित ही है। किंतु हम यह नहीं जानते कि आदिवासी शब्द कहाँ और कैसे उत्पन्न हुआ और व्यवहार में आया। आज के समय में जंगल में रहने वाले आदिवासी शब्द से जाने जाते हैं। उनकी प्रवृत्ति नगरवासियों से भिन्न होती है, वे स्वभाव से क्रूर होते हैं, केवल शिकार करने में ही लगे रहते हैं, विद्याविहीन होते हैं, इस तरह का दुष्प्रचार लोक में प्रसिद्ध है। संस्कृत साहित्य में ऐसे आदिवासियों का भी वर्णन मिलता है, जो कि सरल स्वभाव वाले, शास्त्रों के ज्ञाता, तपस्वी तथा सरल होते थे। प्राचीन विद्वानों का तो यह मत है कि आदिवासी शब्द न तो जातिवाचक है, न ही वर्णवाचक है। आदिवासी शब्द तो उसके निवास का सूचक है। श्रीमद् रामायण में आदिवासियों की ऐसी विभिन्न जातियों का वर्णन है। सर्वप्रथम तो आदिवासी शब्द के अर्थ का ही विचार करना चाहिए।

वनवासी/आदिवासी शब्द का अर्थ- आ- 'प्रथमं दीयते गृह्यते' इस प्रकार आ-पूर्वक दा धातु से 'उपसर्गे घोः किः' (3-3-92) से कि प्रत्यय होकर आदि शब्द बनता है। इसका अर्थ है– जिसे सर्वप्रथम अंगीकार किया गया हो। पुंस्यादि पूर्वपौरस्त्यप्रथमाद्याः।[4] सृष्टि के आरंभ में मुख्य सृष्टि में वृक्ष थे तथा पृथ्वी के अधिकांश देश प्रायः वन थे। आदि शब्द प्रथम अर्थ का बोध कराता है। वसतीति वासी वस निवासे इस धातु से वासी शब्द निष्पन्न होता है। इस तरह, अरण्य में है निवास जिसका ऐसा अर्थ होगा।

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।[5]

अतः उपर्युक्त प्रकार से वेद-उपनिषद् में भी सृष्टि-वर्णन के प्रसंग में अन्न से पुरुष की उत्पत्ति बतलायी गई है। इसी प्रथमोत्पन्न पुरुष को प्रथमवासी, मूलवासी अथवा आदिवासी कहते हैं। इन्हें ही बाद में प्रकृति में वास करने के कारण वनेचर, वनवासी की संज्ञा मिली। ये प्रकृति के धर्म का पालन करते।

जन शब्द 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से निष्पन्न है तथा उद्भिज, जरायुज, स्वेदज तथा अण्डज रूप से चार भेदों में विभक्त है। वृक्षादि उद्भिज, कृमि स्वेदज, सर्पादि अण्डज तथा मनुष्य जरायुज हैं। प्राचीन ग्रंथों में जन शब्द को पामर अर्थ का वाचक बताया गया है। शब्दकल्पद्रुम में इसके पामर और असुर- दो अर्थ मिलते हैं। मेदिनीकोश में भी जन शब्द का अर्थ पामर किया गया है। भारत सरकार ने जन शब्द का अनुसूचित जनजाति (एसटी) परक अर्थ किया है। जन शब्द से सूचित होने वाली 35 जनजातियों का वर्णन राजपत्रों में मिलता है। इन 35 जनजातियों को सरकार द्वारा स्वीकृति मिल चुकी है।

इस प्रकार ब्राह्मण आदि सभी जातियों, मृग तथा राक्षसादि भी अरण्य में रहते थे। श्रीमद् रामायण में कुछ ऐसे अरण्यवासी भी हैं जो कि शांतिपूर्ण जीवन के लिए जनपद से अरण्य गए हैं। श्रीमद् रामायण में ऐसे अनेक प्रसंग देखने को मिलते हैं। श्रीमद् रामायण में आदिवासी समुदाय इस प्रकार वर्णित है कि श्रीमद् रामायण में वर्णित आदिवासी सभी लिंगों तथा सभी जातियों के हैं। उनकी भाषा, संप्रदाय और मानसिक प्रवृत्ति कुछ की नागरिक तथा कुछ की विशुद्ध वनवासी के समान बताई गई है।

रामायण में आदिवासी-

काण्ड	वर्णन
बालकाण्ड	*ऋष्यशृंग और अहल्या*
अयोध्याकाण्ड	*श्रवणकुमार, गुह*
अरण्यकाण्ड	*शरभंग, सुतीक्ष्ण, भरद्वाज, अगस्त्यादयः मुनीन्द्राः। मारीचादि राक्षस निसर्गतया दुष्ट होते हुए भी समय के प्रभाव से परिवर्तन को प्राप्त किए। बाल्यकाल से अरण्य में रहने वाली शबरी आदि का भी वर्णन मिलता है।*
किष्किन्धाकाण्ड	*पाक्षिकरूप से मनुष्य के समान प्रवृत्ति वाले एवं कुछ पशुओं के समान प्रवृत्ति वाले बालि, सुग्रीव, हनुमान, नल, नील आदि का वर्णन मिलता है।*
सुन्दरकाण्ड	*रावणादि नगरवासियों में भी वनवासियों के समान नर नृशंसप्रवृत्तियाँ मिलती हैं।*
युद्धकाण्ड	*रावण, कुम्भकर्णादि का ही पुनः वर्णन प्राप्त होता है।*
उत्तरकाण्ड	*दुर्दैववशात वनवास का भागी बने हुए श्वेतकेतु और रावण, कुम्भकर्ण तथा विभीषणादि का वर्णन मिलता है।*

1. बालकांड में आदिवासी समुदाय

ऋष्यशृंग- ऋष्यशृंग को सर्वप्रथम बालकांड में देखा गया। ऋष्यशृंग जन्म से तो ब्राह्मण थे परंतु उनके पिता विभांडक वनवासी थे। अतः वह भी वनवासी हुए। छल-कपट आदि से सर्वथा रहित, किसी नागरिक वस्तु के दिखने पर कौतूहल हो जाने वाले आदिवासी इस प्रकार से ऋष्यशृंग का पात्र चित्रण रामायण में वाल्मीकि ने स्पष्ट किया है। ऋष्यशृंग को वेदाध्ययन के अलावा अन्य किसी कार्य का ज्ञान नहीं था। अंगराज के द्वारा भेजी गईं स्त्रियों को देखकर उनके अंदर के छल को नहीं जान पाना, इससे उनकी नागरिक व्यवहार से अनभिज्ञता स्पष्ट होती है।

पिता विभाण्डकोऽस्माकं तस्याहं सुत औरसः।
ऋष्यशृंग इति ख्यातं नाम कर्म च मे भुवि।।
इहाश्रमपदोऽस्माकं समीपे शुभदर्शनाः।
करिष्ये वोऽत्र पूजां वै सर्वेषां विधिपूर्वकम्।।[6]

अहल्या- अहल्या ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से

ब्राह्मणी थी। गौतम की पत्नी थी अतः कुलीना भी थी। एक तपस्वी की पत्नी होने के उपरांत भी वह दुर्मति थी। आदिवासियों का सरल स्वभाव तथा सच्चरित्र उसमें देखने को नहीं मिलता। जब इंद्र ने रतिकर्म के लिए उसका आह्वान किया तब उसने पत्नी धर्म का उल्लंघन करते हुए इंद्र के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार से अहल्या के चरित्र को वाल्मीकि ने स्पष्ट किया है।

मुनिवेषं सहस्राक्षं विधाय रघुनन्दन।
मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात्।।[7]

2. अयोध्या कांड में आदिवासी समुदाय

श्रवण कुमार- राम के वन गमन के पश्चात् दशरथ ने पुत्र-वियोग का हेतु बने हुए शाप का भेद खोलते हुए अपने द्वारा किए गए पाप को कौशल्या को बताया। दशरथ कहते हैं कि उस समय मैंने माता-पिता के प्रति पूर्णतया समर्पित किसी मुनि पुत्र की हत्या कर दी, तत्पश्चात् उसके माता-पिता ने मुझे शाप दिया। इस संदर्भ में आदिवासियों की जीवनशैली तथा आदिवासियों में भिन्न जातियों का वर्णन किया है। दशरथ द्वारा कुमार श्रवण की हत्या से यह स्पष्ट होता है कि वैश्य पिता तथा शूद्र माता से उत्पन्न श्रवण मधुविक्रम अथवा उसकी जाति के अन्य लोगों के साथ वन में रहता था।

न द्विजातिरहं राजन्मा भूत्ते मनसो व्यथा।
शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जनपदाधिप।।[8]

गुह– श्रीमद् रामायण में गुह का आदिवासियों तथा साधारण जनों की देखभाल करने वाले कुशल, सरल स्वभाव वाले, अतिथि पूजक तथा भक्तके रूप में वर्णन प्राप्त होता है। वह गंगा किनारे वन में आदिवासी राजा बन गए निषादराज नाम से उनका स्पष्ट वर्णन मिलता है। आज आदिवासी शब्द का व्यवहार जिस अर्थ में हो रहा है, इस व्यवहार अनुसार वे भी आदिवासी थे। जब श्रीराम ने अयोध्या से वन के लिए प्रस्थान किया, तब प्रथम रात्रि उन्होंने गुह के निवास पर ही बिताई और गुह के निवास के पास एक पेड़ था। राम के चले जाने पर जब भरत राम को खोजते हुए गुह के निवास स्थान पहुँचे, तब भरत राम से द्रोह करते हैं ऐसा विचार कर निषादराज भरत से युद्ध करने आ गए। इससे यह ज्ञात होता है कि वन में रहने वाले आदिवासी भी नागरिकों से लड़ने में सक्षम थे। राजा की रक्षा के लिए दृढ संकल्पित गुह लक्ष्मण से कहता है– मैं श्रीराम की रक्षा में सक्षम हूँ। इस प्रकरण में गुह के वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिवासी सत्यनिष्ठ तथा धर्म, अर्थ और काम के पारायण हैं।

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेस्मिन्सुमहद्यशः।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकामौ च पुष्कलौ।।
सोहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वथा ज्ञातिभिः सह।।
नमेस्त्यविदिनं किञ्चिद्वनेस्मिंश्चरतः सदा।
चतुरङ्ग ह्यतिबलं सुमहत्सन्तरेमहि।।[9]

आदिवासियों के संप्रदाय– अयोध्या कांड में राम के व्यवहार से ज्ञात होता है कि आदिवासी लोग वानप्रस्थ तथा वैखानस हुआ करते थे। उनका वैखानस तथा बालखिल्य नाम इसलिए पड़ा क्योंकि वहाँ के ब्राह्मण नखयुक्त एवं बालयुक्त होते थे। राम के वाक्यों से यह ज्ञात होता है कि यह वन्य आहार का सेवन करने वाले, न्यग्रोध के दुग्ध से भीगी हुई जटा वाले हुआ करते थे। तिलक टीका में तथा गोविंदराजीय टीका में वनवासियों के धर्मो का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। अतः राम, सीता और लक्ष्मण भी बनवास के समय में आदिवासी ही कहलाए।

ततो वैखानसं मार्गमास्थितः सहलक्ष्मणः।
व्रतमादिष्टवान्रामः सहायं गुहमब्रवीत्।।

चित्रकूट में भरत को चरण पादुका प्रदान करने के पश्चात् श्रीराम ने दंडकारण्य के लिए प्रस्थान किया और वहाँ उन्होंने ऐसे अनेक ऋषियों का दर्शन किया जो कि आदिवासियों की विशेषताओं से युक्त थे।

3. अरण्यकांड में आदिवासी

शरभंग– आदिवासियों के आहार नियमों का ज्ञान रामादि के द्वारा शरभंग के आश्रम से सुतीक्ष्ण के आश्रम की ओर प्रस्थान करते समय के वर्णनों से प्राप्त होता है। कुछ लोग अपक्व आहार पदार्थो को ही दांतों से पीसकर खाते हैं, कुछ पत्थरों के द्वारा पीसकर खाते हैं। इस प्रकार जल और पत्तों का सेवन करके ही वे अपना जीवन व्यतीत करते थे। आजकल भी आदिवासी लोग

जड़ों, कंद, मूलों का सेवन करते हैं।

वैखानसा बालखिल्याः सम्प्रक्षाला मरीचिपाः।
अश्मकुटाश्च बहवः पात्रहाराश्च तापसाः।।
दन्तोलूखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः परे।
गात्रशय्या अशय्याश्च तथैवानवकाशिकाः।।

मारीच-वन में उत्पन्न राक्षस मारीच भी यज्ञ की रक्षा के दौरान राम द्वारा घायल होने पर आदिवासियों के समान शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगा। अरण्यकांड में रावण के द्वारा देखे गए मारीच का वर्णन एक धार्मिक के रूप में किया गया है।

तत्र कृष्णाजिनधरं जटामण्डलधारिणम्। ददर्श
नियताहारं मारीचं नाम राक्षसम्।।
स रावणः समागम्य विधिवत् तेन रक्षसा।
मारीचेनार्चितो राजा सर्वकामैरमानुषैः।।
तं स्वयं पूजयित्वा च भोजनेनोदकेन च। अर्थोपहितया
वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत्।।

शबरी- अरण्य कांड के चौहत्तरवें सर्ग में कबंध के कहने पर राम के द्वारा देखी गई वनवासिनी आदिवासिनी और गुरुभक्त शबरी का वर्णन भी प्राप्त होता है। शबरी के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है कि महर्षि मतंग के ब्रह्मलोक गमन के पश्चात् वह तपस्विनी बनकर राम के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। यद्यपि इसका वर्णन साठ से ज्यादा श्लोकों में है, तथापि उसके व्यवहार के निरूपक दो से तीन श्लोक यहाँ दिए जा रहे हैं।

इयं प्रत्यवस्थली वेदी यत्र ते मे सुसत्कृताः।
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति श्रमादुद्वेपिभिः करैः।।
तेषां तपःप्रभावेण पश्चाद्यापि रघूत्तम।
द्योतयन्ती दिशः सर्वाः श्रिया वेद्यतुलप्रभा।।

4. किष्किंधाकांड में आदिवासी– किष्किंधाकांड में आदिवासी की विशेषताओं से युक्त वनवासी वानरों का वर्णन है। वानर शब्द में वा विकल्पार्थक है। उनके वर्णन से ज्ञात होता है कि कुछ समय तो वे मनुष्य के लक्षणों से युक्त तथा अन्य समय पशुओं के लक्षणों से युक्त रहते थे। वानरों के लिए भी मनुष्य के समान ही आहार, विवाह, आभूषण तथा शासनाधिकार का वर्णन प्राप्त होता है। अतः सभी वानरों ने सशस्त्र होकर समरांगण में युद्ध किया तथा वे देव पूजा में भी तत्पर थे। उनमें से कुछ के स्वभावों का निरूपण किया जा रहा है।

बालि- बालि इंद्र का पुत्र तथा सुग्रीव का ज्येष्ठ भाई था। बालि तथा सुग्रीव की माता एक ही थी, परंतु पिता अलग-अलग थे। इससे यह ज्ञात होता है कि आदिवासी संप्रदाय में स्त्रियों और पुरुषों में एकनिष्ठता नहीं थी। बालि किष्किंधा का राजा बन गया। किष्किंधा शब्द सभी वस्तुओं की समृद्धि का सूचक है। *किं किं न धीयते अस्यामिति किष्किन्धा। कस्कादिषु च* इस सूत्रस्थ गण में पठित किष्किंधा शब्द का यह अर्थ दिखाया गया है। बलवान बालि शिव भक्तभी था, ऐसा उत्तरकांड में वर्णन प्राप्त होता है। उत्तरकांड में यह भी वर्णन प्राप्त होता है कि चारों समुद्रों में स्नात बालि उन चारों समुद्रों के जल से प्रतिदिन जलाभिषेक किया करता था।

चतुर्थोपि समुद्रेभ्यः संध्यामन्वास्य रावण।
इदं मुहूतमायाति बाली तिष्ठ मुहूर्तकम्।।

किष्किंधाकांड में यह स्पष्ट किया गया है कि अनेक लक्षणों से संपन्न होने पर भी वह बालि सुग्रीव की भार्या का अपहरण करने के कारण वध के योग्य था।

सुग्रीव- बालि के कनिष्ठ भ्राता सुग्रीव का विवाह मनुष्य के साथ हुआ था। उसकी पत्नी रूमा थी। पहले वह बालि का भक्त था। बालि दुंदुभि नामक एक राक्षस से युद्ध करते-करते गुफा में चला गया, किंतु बहुत दिनों तक वापस नहीं आया। सुग्रीव ने बहुत बड़ी शिला से गुफा को ढककर वापस आकर अपना राज्याभिषेक करा लिया। यही आदिवासियों के विचित्र व्यवहार को दर्शाता है। ज्येष्ठ भ्राता की मृत्यु के उपरांत सुग्रीव ने तारा से भी विवाह किया, इससे यह ज्ञात होता है कि आदिवासियों में दूसरे की पत्नी से विवाह करना वर्जित नहीं था। लक्ष्मण के द्वारा देखे गए सुग्रीव के अंतःपुर के वर्णन से ज्ञात होता है कि आदिवासियों के भोग भी नगरवासियों के समान होते थे।

हनुमान- वायुपुत्र हनुमान महान बलशाली थे। अपने गुरु सूर्य के आदेश पर वे सुग्रीव के मंत्री बने। सुग्रीव के राज्य खो देने पर भी उन्होंने उसकी सेवा की। उत्तरकांड के बत्तीसवें सर्ग में यह स्पष्ट लिखा है कि हनुमान बालि तथा रावण दोनों से अधिक बलशाली

थे। हनुमान की पराक्रम शक्ति से पहले ही बालि को किसी ने सचेत कर दिया था, अतः बालि कभी हनुमान से लड़ने नहीं गया। किष्किंधाकांड में आदिवासी हनुमान का महत्त्व राम ने हनुमान के प्रथम दर्शन में ही बताया है। श्रीराम ने हनुमान में कई गुण देखे– जैसे संस्कृत भाषा, स्पष्ट भाषण, उत्कृष्ट संदेशवाहक, सुयोग्य मंत्री और प्रसन्न वदन।

संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहारिणीम्।।
एवंविधो यस्य दूतो न भवेत् पार्थिवस्य तु।
सिद्ध्यन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ।।
अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्यथम्।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ।।
एवंगुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः।
तस्य सिद्ध्यन्ति सर्वेऽर्था दूतवाक्यप्रचोदिताः।।

5. सुंदरकांड में आदिवासी संप्रदाय– राक्षस योनि में उत्पन्न रावण, कुंभकर्ण और विभीषण आदि ने अपने पराक्रम से कुबेर को परास्त कर लंका को प्राप्त किया। अतः वे नागरिक कहलाए। सुंदर कांड में बहुधा उनके ऐश्वर्य को अभिव्यक्त करने वाले वर्णन मिलते हैं। लंका प्राप्ति से पूर्व तो वे आदिवासी व वनवासी ही थे। ब्रह्मा से वरदान प्राप्त करने के पश्चात भी वे अपने निवास स्थान श्लेष्मातक वन में चले गए।

एवं लब्धवराः सर्वे भ्रातरो दीप्ततेजसः।
श्लेष्मातकवनं गत्वा तत्र ते न्यवसन्सुखम्।।

6. युद्धकांड में आदिवासी

नल और नील- युद्धकांड में नल और नील नामक दो वानरों को विशेष गुणों से युक्त बताया गया है। नल बाल्यकाल में स्वेच्छाचारी था तथा मुनियों की वस्तुओं को जल में फेंक दिया करता था। तब क्रोधित मुनियों ने उन्हें शाप दिया कि तुम जो भी वस्तु जल में फेंकोगे, वह वस्तु जलमग्न नहीं होगी। वही शाप सेतु-निर्माणकाल में वर सिद्ध हुआ। स्वयं समुद्र ने ही श्रीराम को बताया था कि नल सेतु निर्माण में समर्थ है। रामेश्वरम् में प्राप्त शिलालेखों के दर्शन से यह स्पष्ट होता है कि वस्तुतः नल ऐसी शिलाओं के वेत्ता थे जो जल में तैरने वाली होती थी। इस प्रकार नील सेतु के निर्माण में कुशल थे।

7. उत्तरकांड में आदिवासी

उत्तरकांड में ब्रह्मा से वरदान प्राप्त कर रावण, कुंभकर्ण और विभीषण तपस्या के पश्चात् श्लेष्मातक वन गए एवं वहाँ निवास किया। एवं लब्धवराः सर्वे श्लेष्मातकवनं.... न्यवसन्सुखम्।। उपरोक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि वे आदिवासी संस्कृति से जुड़े थे। बालकांड में ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि स्वयं ब्रह्माजी ने वाल्मीकि को रामायण की रचना के लिए आदेश दिया था। जब श्रीराम ने सीता का परित्याग कर दिया, तब महर्षि वाल्मीकि सीता को अपने आश्रम में ले गए तथा उनकी रक्षा की। श्रीमद् रामायण में वनवासियों के लक्षण-वर्णन के प्रसंग में तत्कालीन आदिवासियों की भाषा, आहार, विहार, जीवन शैली एवं चरित्र आदि स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

संदर्भ

1. अमरकोश- चौखंबा संस्कृत विद्यालय, वाराणसी, 2010। **2.** पाणिनीय अष्टाध्यायी– रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरियाणा। **3.** पाणिनीय धातुपाठ- रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरियाणा। **4.** श्रीमद्रामायणम-व्याख्यात्रयोपेतम्, परिमला पब्लिकेशन्स, दिल्ली 2012। **5.** सकलदेवतासूक्तमंजरी- आंध्र भाषा में, आमच्चिविजयभास्करशास्त्री, बोस रोड, तेनालि, 2008। **6.** सिद्धांतकौमुदी- चौखंबा संस्कृत विद्यालय, वाराणसी, 1977। **7.** श्रीमद्भागवद्गीता-गीताप्रेस, गोरखपुर, 2015। **8.** ऋग्वेद- चौखम्बा प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2016। **9.** 108 उपनिषद्- युग निर्माण योजना, मथुरा (उ.प्र.), 2005।

❒❒

सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110007
ई-मेल : mkisanskrit@gmail.com
मो. 8826883966

भारतेंदुयुगीन व्यंग्य साहित्य में राष्ट्रभक्ति एवं राजभक्ति

डॉ. अब्दुल लतीफ़

राजनीतिक दृष्टि से भारतेन्दु-युग संक्रमित होने के साथ-साथ विरोधाभासों का भी काल रहा है। हम जानते हैं कि भारतेन्दुयुगीन साहित्य पर भारतीय नवजागरण का प्रभाव है, जिसमें राष्ट्र प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है लेकिन यह भी सत्य है कि भारतेन्दुयुगीन तमाम रचनाकारों पर राजभक्ति का आरोप लगाया जाता है। यह विवाद का विषय है और विभिन्न आलोचकों ने इस पर अपना मत व्यक्त किया है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र की आरंभिक एवं परवर्ती रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम यह पाते हैं कि उनका साहित्य अनेक अंतर्विरोधों को लिए हुए है। उनके यहाँ राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति का द्वंद्व दिखायी पड़ता है। हिंदी आलोचकों ने राष्ट्रीय चेतना के प्रस्तोता के रूप में भारतेन्दु बाबू को महिमामंडित तो किया, लेकिन साथ ही उन प्रश्नों की कड़ी आलोचना की जो इस स्थापना का विरोध करते पाये गए।

अंग्रेजी उपनिवेशवाद का सीधा प्रभाव साहित्य तथा विभिन्न कलाओं पर पड़ा इसके मूल में संघर्ष था। जिसका कारण उसकी तत्कालीन परिस्थितियों में ढूंढ़ा जा सकता है। हम जानते हैं कि भारतेंदुयुगीन साहित्य ऐसे समय की देन है जब भारत में राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से संक्रमण चल रहा था। चेतना मध्ययुगीन भाव बोध से आधुनिकता की ओर संक्रमण कर रही थी। ऐसे में संस्कार और विवेक का अंतर्द्वंद्व आम बात है। भारतीय भाषाओं के उस समय के लेखकों के साहित्य को देखने पर उनके लेखन तथा उनके विचारों में पुनरुत्थानवादी तथा नवीन चेतना का द्वंद्व साफ तौर पर दिखाई पड़ता है। उपनिवेशवादियों ने भारतीय संस्कृति को हीन दृष्टि से देखा। यह कहना गलत नहीं होगा कि पराधीनता के अनुभव में अपनी राष्ट्रीय अस्मिता की खोज तथा उसकी अभिव्यक्ति इस समय का मुख्य मुद्दा बना और इसी क्रम में सुधारवाद का रूप सामने आया, जो अपने समय से आगे देखने का पक्षधर था। इन अंतर्विरोधों से समाज दो वर्गों में बंट गया। एक जो अंग्रेजी राज के पक्ष में था, दूसरा विरोध में। भारतेंदु युग के प्रायः रचनाकारों ने पहले राजभक्ति का मार्ग चुना और अंग्रेजी सत्ता को आधुनिक चेतना के प्रसार के लिए आवश्यक माना। शोषण विरोध के रूप में सामने आया।

भारतेंदु का सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय प्रहसन 'अंधेर नगरी' है। भारतेंदु ने अप्रत्यक्ष रूप से यह संकेत किया है कि इस राज्य की व्यवस्था ऐसी है मानो इसका शासक विदेश में रहता है। गोवर्धनदास कहता है– 'धर्म अधर्म एक परसाई। राजा करें सो न्याय सदाई।'[1] कहने की जरूरत नहीं कि राजा विदेश में ही रहता था और वास्तव में अंधेर नगरी कोई और नहीं अपितु ब्रिटिश भारत ही था। इसकी व्यवस्था कुछ और नहीं बल्कि नौकरशाही व्यवस्था है, जिन्होंने सामंतों को शोषण का अपना माध्यम बना रखा है। भारतेंदु अंग्रेजी राज के साथ-साथ सामंतों

का भी विरोध करते हैं। अंधेर नगरी के बाजार में नारंगीवाला, कबाबवाला, चना जोर गरम वाला, हलवाई, पाचक वाला, मछली वाला, बनिया- ये सब हमारे समाज से सम्बंधित पात्र हैं, जिन्हें राजनीतिक और सामाजिक रूप से जोड़कर भारतेंदु ने प्रहसन को यथार्थवादी मोड़ दिया है एवं तत्कालीन व्यवस्था का प्रामाणिक चित्रण किया है। इसके माध्यम से भारतेन्दु ने रिश्वतखोरी पर भी प्रकाश डाला है। घासीराम टैक्स पर कटाक्ष करता है– 'चना हाकिम सब जो खाते, सब पर दुने टिकस लगाते।'[2] घुसखोरी व्यवस्था देश को खोखली बनाती जा रही थी। भारत आर्थिक दृष्टि से कमजोर होता जा रहा था।

निबंधों में इनके द्वारा अंग्रेजी सरकार की दमनकारी नीतियों पर किया गया व्यंग्य सिर चढ़कर बोलता है। इन्होंने स्तोत्र शैली में निबंध लिखे जिसमें 'अंग्रेजी स्तोत्र' विशेष लोकप्रिय है। कबीर की प्रहारात्मकता और अमीर खुसरो का चुटकीलापन दोनों उनके इन विलक्षण व्यंग्य में देखने को मिलते हैं। समाज प्रताड़नाओं से पीड़ित था, लेकिन उनके पास कोई उपाय नहीं था। ऐसे में रचनाकार व्यंग्य का ही सहारा लेता है–

'हे अंगरेज! हम तुमको प्रणाम करते हैं। तुम नृसिंह हो क्योंकि मनुष्य और सिंह दोनोपन तुम में है, टैक्स तुम्हारा क्रोध है और परम विचित्र हो, क्योंकि तुम वामन कर्म में चतुर हो, तुम परशुराम हो क्योंकि पृथ्वी निक्षत्री कर दी है। अतएव, हे लीलाकारिन! हम तुमको नमस्कार करते हैं।'[3]

1870 में लॉर्ड मेयो का दरबार लगा था। इसी के आधार पर भारतेंदु ने अपना प्रसिद्ध व्यंग्य 'लेवी प्राण लेवी' लिखा। पहले भी कहा जा चुका है कि सामंती व्यवस्था का अस्तित्व अंग्रेजों की कठपुतलियों तक ही सीमित था और शोषण का माध्यम मात्र बना हुआ था। इस निबंध में भारतेंदु ने इन सामंतों और देशी राजाओं की इसी स्थिति पर व्यंग्य किया है।

बनारस युक्तप्रांत का केंद्र था जहां के रईस भी एक माध्यम बस रह गए थे। भारतेंदु ने लेवी दरबार में इनकी अवस्था की चुटकी इस प्रकार ली है- 'पंडितों को दक्षिणा बटने वाली सभा के भांति एक एक का नाम लेकर पुकार के बल्लमटेर की पलटन की चाल से सबको खड़ा कर दिया। बनारस के रईस भी कठपुतली बने हुए उसी गत में नाचते रहे।[4] इतना ही नहीं निबंध में राय साहब ऑनरेरी मजिस्ट्रेट हैं, जो किसी भी रूप में सक्षम नहीं फिर भी चाटुकारिता का फल अधिकार रूप में प्राप्त किए हुए हैं।

निबंध में सामंती व्यवस्था और अंग्रेजी राज पर चोट तो की ही गयी है साथ ही इसमें रचनाकार ने यह चिंता भी व्यक्त की है कि न जाने कब इन कठपुतलियों की नींद खुलेगी और इनको इनके गौरव का स्मरण होगा। क्योंकि बिना उसके स्मरण, बिना स्वाभिमान के स्थिति परिवर्तन की लालसा संभव नहीं। इसके लिए 'रईसों के नंबर की यही दशा थी कि आगे के पीछे और पीछे के आगे अंधेर नगरी हो रही थी। बनारस वालों को न इस बात का ध्यान कभी रहा है और न रहेगा। ये विचारे तो मोम की नाक हैं चाहे जिधर फेर दो।'[5]

भारतेंदुयुगीन गद्यकारों में बालकृष्ण भट्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। विचारों की उदारता में वे भारतेंदु के साथ खड़े हुए प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं तो उनसे आगे भी थे। समाज और साहित्य की धारणाएं उनकी खुद की थीं। लेकिन विडंबना देखिए कि आज भी वे समाज द्वारा अपनायी नहीं गयीं। परिस्थिति ही ऐसी थी कि जनसामान्य सरकार से डरता था, लेकिन भट्ट जी अपने साहित्यकर्म में अडिग रहे। इन्होंने देश की आज़ादी, कौमियत या जातीयता, आत्मनिर्भरता जैसे मुद्दों पर लगातार 'हिंदी प्रदीप' में लिखा। राजनीतिक विकास की दृष्टि से इन्होंने नानक, शंकराचार्य, कबीर आदि सन्तों की शिक्षाओं को व्यावहारिक धरातल पर विश्लेषित किया। इनका चिंतन और लेखन इस रूप में अन्यान्य भारतेंदुयुगीन रचनाकारों से भिन्न है कि इन्होंने जाति की गुलामी का कारण कौमियत का अभाव माना है। 1881 में वे लिखते हैं–

'हमारी विद्यमान छिन्न-भिन्न दशा, जिसके कारण हज़ार चेष्टा करने पर भी जातीयता (राष्ट्रीयता) हमारे में आती ही नहीं, सब पुराण की ही कृपा है। जब तक शुद्ध वैदिक साहित्य हमलोगों में प्रचलित था तब तक जातीयता के दृढ़ नियम में ज़रा भी अंतर नहीं होने पाया

था। पुरानों के साहित्य के प्रचार से एक बड़ा लाभ भी हुआ कि वेद के समय की बहुत सी घिनौनी रीतियों और रस्मों को जिनके लेने से हम घिना उठते हैं और उन सब महाघोर हिंसाओं को जिनके सबब से अपने अहिंसा, धर्म के प्रचार में बौद्धों को सुविधा हुई थी। पुराणकर्ताओं ने उठाकर शुद्ध सात्विक धर्म को विशेष स्थापित किया। अनेक मतमतान्तरों का प्रचार भी पुराणों की ही वस्तु है। अनेक पुराण वाले तो पंचायतन पूजने तक से संतोष करके रह गये। तंत्रों ने बड़ा संहार किया। उन्होंने क्षुद्र देवता भैरों, काली, डाकिनी, शाकिनी, भूत प्रेत तक के पूजन को फैला दिया। मद्य, मांस के प्रचार को जिसे वेदों ने तमोगुणी और मलिन समझ उठा दिया था; तांत्रिकों ने फिर बहाल किया, पर बलवीर्य की पुष्टता से जो मांसाहार का प्रधान लाभ था, ये लोग फिर भी वंचित ही रहे। निःसंदेह तांत्रिकों की कृपा न होती तो हिन्दुस्तान ऐसा जल्द न डूबता।'[6]

जहाँ तक प्रतापनारायण मिश्र की बात है, तो मिश्र जी की दृष्टि बालकृष्ण भट्ट की ही भांति स्पष्ट और उग्र थी। इन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से अंग्रेजी राज की भर्त्सना की। इनकी रचनाओं में भी टैक्स के प्रति तथा मुसलमान के साथ किए गए पक्षपात के विरुद्ध विरोध का स्वर मुखर है। मिश्र जी ने स्वतंत्रता के लिए जनता का आह्वान किया है। कहा जा सकता है कि प्रतापनारायण मिश्र स्वतंत्रता की बात करने वाले प्रथम साहित्यकार थे-

'सर्वसु लिए जात अंगरेज,
हम केवल लेक्चर के तेज।
श्रम बिन बातें का करती है,
कहुँ टटकन गाजै टरती है।।
अपनो काम अपने ही हाथन भल होई।
परदेशिन परधर्मिन ते आशा नहिं कोई।।
धन धरती जिन हरी सु करिहैं कौन भलाई।
जोगी काके मीत कलंदर केहि के भाई।।
सब तजि गहो स्वतंत्रता, नहिं चुप लातैं खाव।
राजा करै सो न्याव है, पांसा परै सो दाव।।'[7]

राधाचरण गोस्वामी भारतेंदु मंडल के प्रमुख लेखकों तथा भारतेंदु के अनन्य प्रशंसकों में थे। गद्य के क्षेत्र में अगर यह कहा जाय कि यह भारतेंदु के अनुयायी थे तो गलत नहीं होगा। इन्हीं से प्रभावित होकर इन्होंने 1937 ई. में वृंदावन से 'भारतेंदु' नामक पत्र निकाला। इसी पत्र में इनके अधिकांश लेख छपे। भारतेंदु की ही परंपरा में इन्होंने व्यंग्यात्मक स्तोत्रों की रचना की। प्रहसन नाटकों का सृजन किया। इनमें समाज-सुधार एवं देशभक्ति की भावना प्रधान रूप से भरी थी। विचार प्रधान व्यंग्य निबंधों को इन्होंने विवरणात्मक शैली में लिखा। इनका सम्पूर्ण जीवन इस तथ्य का प्रमाण है कि इन्होंने अपने जीवन काल में सामाजिक सुधार कार्य में बढ़-चढ़कर भाग लिया। राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज से भी इनका संपर्क प्रमाणित हुआ है। इन्होंने सरकार की कड़ी आलोचना एवं सामाजिक विषयों पर व्यंग्य लिखकर साहित्य जगत में अपना हस्तक्षेप किया। 'रेलवे स्तोत्र', 'मूषक स्तोत्र' एवं 'यमपुर की यात्रा' इनके राष्ट्रभक्ति प्रधान निबंधों में मुख्य हैं। यद्यपि इनके व्यंग्यात्मक लेखों की संख्या कम है, तथापि अपने विषय में ये लेख गंभीर हैं।

राधाचरण जी का भी मानना था कि सामाजिक सुधार से ही राजनीतिक सुधार संभव है। समाज के हर स्तर पर इन्होंने सुधार की आवश्यकताओं पर कलम चलाई। इस काल के रचनाकारों ने हिंदी साहित्य को एक नये मार्ग पर खड़ा किया। गोस्वामी जी की राजनीतिक चिंता कभी सामाजिक तो कभी आर्थिक चिंता में बदल जाती है। टैक्स से कभी इस देश का भला नहीं होगा, अपितु हमेशा नुकसान ही होगा। 'नापित स्तोत्र' वैसे तो सामाजिक स्तोत्र है, लेकिन इसमें गोस्वामी जी ने सरकार द्वारा लगाये गये टैक्स को याद किया है। वे कहते हैं कि अगर उनके परिवार का हित करना है तो टैक्स कम करो।

अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त शिक्षा पर भी गोस्वामी जी ने व्यंग्य किया है। ब्रिटेन की शिक्षा सर्टिफिकेट द्वारा प्रमाणित होती थी, लेकिन गोस्वामी जी का मानना था कि व्यावहारिक जीवन में इसका कोई महत्व नहीं। इसका प्रमाण 'मूषक स्तोत्र' में देखा जा सकता है– 'यह वर मांगते हैं कि और सबकुछ चाहे कर डालिए पर इस मूषक स्तोत्र को न काटिए। यह आपका उन्नीसवीं

शताब्दी का सर्टिफिकेट है, इसे यत्न से अपने पास रखिए और इसे गले में तमगे की तरह लटका के निकलिए।'[8]

भारतेंदु हरिश्चंद्र कृत 'कंकड़ स्तोत्र' की शैली में ही गोस्वामी जी ने 'रेलवे स्तोत्र' की रचना की है। इसमें रेलवे कर्मचारियों की अकर्मण्यता के साथ-साथ अंग्रेजों की पक्षपातपूर्ण नीति पर भी व्यंग्य किया गया है। अंग्रेज नस्लीय श्रेष्ठता से ग्रस्त थे तथा हर क्षेत्र में अपनी जाति को श्रेष्ठ समझते थे। हर क्षेत्र में उनको विशेष सुविधाएं दी जाती थीं।

अंग्रेज हमेशा से भारतीयों को श्रेष्ठ समझते थे। उक्त निबंध में इसी ओर संकेत किया गया है। गोस्वामी जी इनके पक्षपातपूर्ण रवैये को लक्ष्य करके कहते हैं कि 'हे यूरोप कुल कमल दिवाकर! तुम इंजन सम्भूत हो अतएव स्वजातीय पक्षपात से पूर्ण हो, एक ही गाड़ी, एक ही समय में अंग्रेजों का स्वर्ग और हिन्दुस्तानियों का नरक है। अतएव नरकः स्वर्गः यह नास्तिकों का वाक्य है आज तुम्हारे विषय में ही चरितार्थ हुआ।'[9]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेंदु युग अपने समय से आगे का काल था। रीतिकालीन भावबोध से रचना कर्म आधुनिकता की ओर संक्रमित हो रहा था। ऐसे संक्रमण में आम जनता के सुख-दुःख, उसके शोषण की बात करना भारतेंदु काल के रचनाकारों की खास विशेषता है। इन रचनाकारों ने अंग्रेजों की दमनकारी नीतियों पर व्यंग्य किया। रेगुलेटिंग एक्ट पास हो गया था। अविधा में अंग्रेजों की नीतियों पर लिखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता था। ऐसे में व्यंग्य ही वो माध्यम बना जिसके माध्यम से अंग्रेजों की नीतियों के सच को उद्घाटित किया जा सकता था।

संदर्भ

1. डॉ. मिथिलेश पाण्डेय (सं) भारतेंदु ग्रंथावली, खंड-2, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ-408। **2.** वही : पृष्ठ 401। **3.** डॉ. मिथिलेश पाण्डेय (सं) भारतेंदु ग्रंथावली, खंड-3, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008; पृष्ठ- 524। **4.** नोटबुक, खंड-3; पृष्ठ-573। **5.** नोटबुक, खंड-3; पृष्ठ-579। **6.** सत्य प्रकाश मिश्र (सं) बालकृष्ण भट्ट प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2012, पृ. 19-20। **7.** प्रतापनारायण मिश्र, लोकोक्ति शतक, 1896, पृ. 2। **8.** सुभाष चंदर- हिंदी व्यंग्य का इतिहास, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2016, पृष्ठ-49। **9.** रेलवे स्तोत्र- राधाचरण गोस्वामी।

❑❑

सहायक अध्यापक,
कृष्ण कांता हंडिकि राज्य मुक्त विश्वविद्यालय,
सिटी कैंपस, रेशम नगर,
खानापारा, गुवाहाटी-781022
मो.- 9971819379/7011849151

- *जो सेवा पाता है उसे सेवक का ध्यान रखना चाहिए, न रखना अपने कर्तव्य से चूकना है।*
- *प्राणी-मात्र में जो दुःखी हैं उनकी सेवा भगवद्भक्ति है।*
- *अपनी शुद्ध सेवा के बल पर जो पद और सत्ता हमें मिलती है, वह हमारे हृदय को उच्च बनाती है।*
- *जो सेवापरायण रहेंगे, उन्हें पतन का समय भी कहां मिलेगा।*
- *सेवा मानव-वृत्तियों में सबसे ऊंची और महान वृत्ति है।*
- *सेवा से बढ़कर व्यक्ति को द्रवित करने वाली और कोई चीज संसार में नहीं है।*

साहित्य-संस्कृति में विस्थापित प्रतिमान

डॉ. विदुषी आमेटा

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। विकास, विस्थापन, वृद्धि, पतन आदि शब्द परिवर्तन और गत्यात्मकता के द्योतक हैं। जीवन-मरण, रात-दिन, सुख-दुख, सुबह-शाम, सर्दी-गर्मी आदि परिवर्तन चक्र ईश्वर की सृष्टि में हैं। स्थिरता जड़ता का लक्षण है, जड़ता सौंदर्य बोध को विरूपित करती है। गतिशीलता प्रवाह है, प्रवाह निर्मल आकर्षण देता है। मैथिलीशरण गुप्त ने नहुष शीर्षक खण्डकाव्य में दैवीय अमरता के समक्ष मानवीय जीवन की अंतता का महत्त्व बताते हुए लिखा है– 'हम परिवर्तमान नित्य नये हैं तभी....।' व्यक्ति-जीवन के साथ समाज, साहित्य और संस्कृति में भी परिवर्तन एक्त अवश्यंभावी प्रक्रिया है। यद्यपि हम जीवन के सभी क्षेत्रों में मापदण्डों, मानकों, प्रतिमानों की बात करते हैं पर परिवर्तन को रोक नहीं पाते हैं। परिवर्तन और विकास, प्रतिमानों का विस्थापन है (बीज शब्द : प्रतिमान, परिवर्तन, विस्थापन, साहित्य व संस्कृति)।

प्रतिमान शब्द एक विशिष्ट मानक स्तर का द्योतन करता है जिसमें श्रेष्ठ, विशिष्ट, सार्वभौमिक, सर्वग्राह्य तथा सार्वकालिक होने का भाव निबद्ध रहता है। प्रतिमान, परम्परा से हमारे साथ होते हैं और हमारे लिए एक आदर्श परिवेश का निर्माण करते हैं। मनुष्य के जीवनानुभवों से संचित यथार्थ जब समरूपता को प्राप्त कर लेते हैं तो आदर्श हो जाते हैं और ये यथार्थानुभव से निर्मित आदर्श ही प्रतिमान कहे जा सकते हैं। कालक्रम के सापेक्ष विविधक्षेत्रों में प्रतिमानों का विस्थापन दृष्टिगोचर होता है अर्थात प्रचलित प्रतिमान परिवर्तित होते हैं और नए प्रतिमान स्थापित होते हैं। यह प्रक्रिया आवश्यक भी है और अवश्यंभावी भी है। जब परिवेश में कालिमा हो, सन्नाटा हो, अशांति, अन्याय, पीड़ा और दमन हो तो परिवर्तन आवश्यक हो जाता है, जैसा कि किसी कवि की पंक्तियां हैं– धन को न्याय दीन को कारा/ ऐसे में सौगंध उठाए, परिवर्तन केवल परिवर्तन। यह पूँजीवाद के प्रतिरोध में रचित प्रगतिशील कविता है जो अन्यायपूर्ण स्थिति में परिवर्तन कर न्याय की माँग कर रही है। इसमें नकारात्मक स्थिति से सकारात्मक स्थिति में परिवर्तन की मांग है। प्रश्न यह है कि क्या परिवर्तन सदैव सकारात्मक दिशा में होता है? क्या यह विकास का पर्याय है? यहाँ समानान्तर प्रचलित शब्द परिवर्तन, विकास, विस्थापन, विवर्तन व विपर्यय का सूक्ष्म विवेचन आवश्यक है। विवर्तन शब्द आवर्तन का विलोम है। यह अधिकांशतया लहरों के उठने-गिरने जैसी प्रक्रिया है, जिसमें लहरों का उमड़ कर आना और पुनः विस्तारित होकर समुद्र में विलीन हो जाने का भाव निहित है। विवर्तन एक उद्दाम नर्तन के साथ विस्तार ओर विलयन की प्रक्रिया है जिसका विवेचन यहाँ विषय सापेक्ष नहीं है।

विकास एक स्थिति को त्याग कर दूसरी की स्वीकृति है। इसमें प्रथम स्थिति का ध्वंस अनिवार्य है परन्तु, विस्थापन और परिवर्तन में प्रथम स्थिति के ध्वंस की शर्त अनिवार्य नहीं है। अर्थात इसमें प्रथम स्थिति का अस्तित्व नव स्थापना के साथ स्वीकार्य होने की पूर्ण संभावना रखता है। इस प्रकार विकास, परिवर्तन और विस्थापन शाश्वत व आवश्यक प्रक्रियाएँ हैं तथा परिस्थिति सापेक्ष भी हैं। परिस्थिति सापेक्षता के समावेश के साथ ही इसमें सामाजिक, ऐतिहासिक व तात्कालीन युगीन परिस्थितियों का समावेश हो जाता है। विस्थापन में स्थापना अनिवार्य शर्त है, जो विस्थापित हो रहा है, उसकी कभी न कभी स्थापना अवश्य रही होगी। इस स्तर पर कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त प्रतिमान की समस्त विशेषताएं स्थापनाओं और विस्थापनों में समान रूप में होती है। सुमित्रानंदन पंत 'द्रुत झरो' कविता में कहते हैं– *द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र!/ हे स्रस्त-ध्वस्त! हे शुष्क, शीर्ण..../ झर-झर अनन्त में हो विलीन!/ कंकाल-जाल जग में फैले/ फिर नवल रुधिर-पल्लव-लाली..../ निज अमर प्रणय-स्वर मदिरा से/ भर दे फिर नव-युग की प्याली।*[1]

पंत जी वृक्ष के सूखे पत्ते को संबोधित कर कहते है कि *हे संसार में पीले पड़ चुके पत्ते। तुम ध्वस्त हो जाओ, जीर्ण शीर्ण पुराने पत्तों के झड़ने पर संसार में नव पल्लवों की रुधिर लाली का प्रकाश फैल पाएगा।*[2] यहां वे पीत पर्ण के माध्यम से सड़ी-गली अनुपयोगी परम्पराओं के विनष्ट होने की बात कह रहे हैं, जिससे उपयोगी जनहितकारी नवपरम्पराओं की स्थापना संभव हो सके। हजारी प्रसाद द्विवेदी मेरी जन्मभूमि निबंध में अपने जन्मस्थान ओझवालिया गाँव का वर्णन करते हुए कहते हैं– 'यहाँ का इतिहास बनने और बिगड़ने का इतिहास है। इस बनने और बिगड़ने, नाश और निर्माण के क्रम में विस्थापित जीवन के दर्द भी हैं और जीवन के प्रति असीम लालसा, उत्कट जीजीविषा के साथ विकास, परिवर्तन व प्रतिमान स्थापना के सूत्र भी विद्यमान हैं। विकास व विस्थापन की अवधारणा रेखागणित की शब्दावली में आसानी से समझी जा सकती है। विकास एक रेखीय स्थिति है जिसमें बिन्दु 'अ' से 'ब तक रेखा खींची गई है। यहां बिन्दु 'अ' प्रारंभ है, यहां से बिन्दु 'ब' तक जाने के बाद पुनः 'अ' तक वापसी संभव नहीं है। जबकि विस्थापन या परिवर्तन एक वृत्ताकार स्थिति है, जिसमें बिन्दु अ, ब, स, द एक वृत्त यानि गोल घेरे के चारों तरफ बने हुए हैं। यहाँ बिन्दु 'अ' प्रारंभ है और 'अ' से 'ब, स, द' बिन्दुओं तक जाकर पुनः बिन्दु 'अ' तक पहुंचा जा सकता है। अतः बिन्दु 'अ' गंतव्य भी बन सकता है। विस्थापित प्रतिमान वृत्त के बिन्दुओं के समान प्रारंभ भी हैं और गंतव्य की संभावना से पूर्ण भी हैं।

इन अवधारणाओं को भौगोलिक आधार पर भी समझा जा सकता है। राजस्थान के मरुस्थत में ग्रीष्मकाल में तेज आँधियां चलती हैं। ऐसे में, रेत उड़ती और जमती रहती है। कई बार बालू एकत्रित होकर पर्वतीय आकार में टीला बना लेती है। यही रेत वर्षा होने पर पानी के साथ बहकर नदी में छनती है। रेत की ये सभी स्थितियाँ अवश्यंभावी है। न मूल वृत्ति का त्याग होता है न ही एक से दूसरा होने की संभावनाएँ समाप्त होती हैं। ये विस्थापित प्रतिमान हैं। परिस्थिति सापेक्षता के कारण नवीन स्थिति ग्रहण कर ली गई, परन्तु, पुनः स्वीकार्यता की संभावना भी बनी रहती है। साहित्य, समाज व संस्कृति में इसी प्रकार के विस्थापन होते रहते हैं। अर्थात पुरातन का ध्वंस नहीं होता वरन, अपनी विशिष्टता, उपयोगिता, व असाधारणता के कारण नवीन ग्राह्य हो जाता है। विस्थापन की प्रक्रिया के विविध आयामों को हम धर्म, दर्शन, व्यक्तित्व, भाव, विचार, परिवेश, साहित्य, संस्कृति आदि कई संदर्भों में परिलक्षित करते हैं।

विकास और परिवर्तन के संदर्भ में प्रसिद्ध समीक्षक मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि 'सामाजिक विकास की मंजिलों का काल जितना लंबा होता है, साहित्यिक परिवर्तन और विकास की मंजिलों का काल प्रायः उतना लंबा नहीं होता। सामाजिक विकास के एक ही युग में एक से अधिक साहित्यिक प्रवृत्तियों का उदय, विकास और ह्रास संभव होता है। दूसरी बात यह है कि साहित्यिक परिवर्तन और विकास की गति सामाजिक परिवर्तन और विकास की गति से तेज या

धीमी हो सकती है। साहित्यिक विकास कई बार सामाजिक विकास का अग्रगामी होता है और कई बार अनुसरण करता है। सामाजिक विकास की कुछ दशाओं में साहित्यिक विकास की प्रक्रिया बहुत धीमी होती है, कुछ दूसरी दिशाओं में बहुत तीव्र हो जाती है। व्यापक सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों के काल में साहित्यिक परिवर्तन की प्रक्रिया भी तेज हो जाती है। साहित्य में रूप संबंधी परिवर्तन अपेक्षाकृत धीमी गति से होते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल चार सौ वर्षों का है, रीतिकाल दो सौ वर्षों का और स्वाधीनता आन्दोलन के सौ वर्षों के भीतर चार युगों का आना-जाना संभव होता है। स्वतंत्रता के बाद तो साहित्यिक आन्दोलनों का जीवनकाल काफी छोटा हो गया है, उनका जीवनवृत्त निराकार होता गया है। इस बीच तो वर्षजीवी, माहजीवी और सप्ताहजीवी आन्दोलन और साहित्यिक फैशन पैदा होते तथा मरते दिखाई देते हैं।[3]

साहित्य में विस्थापन की ये अवस्थाएं समाज और संस्कृति से सीधे संबंधित है। प्रसिद्ध समालोचक विश्वनाथ त्रिपाठी स्वीकार करते हैं कि 'संसार परिवर्तनशील है। यह परिवर्तनशीलता प्रकृति से कहीं अधिक समाज पर लागू होती है। मनुष्य अपने अनुभव के द्वारा अपने जीवन यापन की पद्धति में परिवर्तन करता जाता है। जीवन यापन की पद्धति के परिवर्तन का प्रभाव उसके चिन्तन और मूल्यों पर भी पड़ता है। इस सबका प्रभाव कला और साहित्य पर भी पड़ता है। समाज में जो व्यापक, जिन्हें हम साहित्येतर कहें, परिवर्तन होता है, उसका दबाव साहित्य पर भी पड़ता है। तत्काल पड़ता हो, या किसी पूर्व निश्चित प्रणाली से पड़ता हो ऐसी बात नहीं, लेकिन किसी न किसी रूप में देर-सबेर पड़ता जरूर है। इसीलिए सामाजिक परिवर्तन के समानान्तर साहित्यिक परिवर्तन होता है। जैसे भारतीय इतिहास में राजपूत काल, मुगल काल, ब्रिटिश काल है, वैसे हमारे साहित्य में भी विभिन्न काल हैं। साहित्येतर सामाजिक परिवर्तनों की प्रक्रिया का विश्लेषण करना, उनका ब्यौरा तैयार करना और उनका पूर्व रूप निर्मित करना समाजशास्त्रीय इतिहासकारों का काम है। साहित्येतर परिवर्तन के समानान्तर जो साहित्यिक परिवर्तन होते हैं, उनमें ताल-मेल बिठाना साहित्य के इतिहासकार का काम है। यहाँ यह समझ रखना जरूरी है कि सामाजिक परिवर्तन यांत्रिक तौर पर साहित्यिक परिवर्तन में साधक नहीं होते। साहित्य भाव व्यापार है। साहित्येतर सामाजिक परिवर्तन की स्थितियां मनोविकारों का आलम्बन बनकर ही साहित्य में परिवर्तन की दिशा का संकेत करती हैं।[4]

समाज, संस्कृति और साहित्य का अन्योन्याश्रित संबंध है। इसलिए साहित्य के विस्थापनों की पड़ताल के लिए समानान्तर क्षेत्रों की पड़ताल भी अनिवार्य हो जाती है। 'आज के जमाने में साहित्य की दुनिया केवल कला और सौन्दर्य की साधना के सहारे नहीं चलती है। वह समाज के आर्थिक ढाँचे, राजनीतिक परिवेश, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक संस्थाओं से बहुत दूर तक प्रभावित होती है। जब से साहित्य की दुनिया में लेखकों और पाठकों के बीच पुस्तक बाजार आ गया है और संस्कृति का क्षेत्र प्रतीकात्मक वस्तुओं का बाजार बन गया है, तब से समाज में कला और साहित्य की स्थिति बदल गई है।[5] विष्णु त्रेता युग में मर्यादापुरुषोत्तम राम है और द्वापर में राधिकारमण कृष्ण। दोनों अवतारी पुरुषों के मध्य चारित्रिक गुणों के विस्थापन का मूल कारण है– परिस्थिति। यहां ध्यातव्य है कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम के स्थान पर लोकरंजक गोपिकाविहारी कृष्ण की छवि समाज में स्थापित होती है, जिसके मूल में कृष्ण के चरित्र की लोकोपकारिता, माधुर्य, सौन्दर्य और प्रेम भाव है। राम के चरित्र की मर्यादावादी उदात्तता का अभिराम बनाए रखते हुए कृष्ण चरित्र प्रेम, माधुर्य आदि के समावेश से नवस्थापन को प्रेरित करता है। राम से कृष्ण के चरित्र में हुए प्रतिमानों के विस्थापन को गीता का यह श्लोक स्पष्ट कर देता है– *'सत्यस्य वचनम् श्रेयः, सत्यादपि हितम् वदेत्।*[6] रामायणयुगीन संस्कृति त्याग पर बल देती है, इसलिए भरत सायास मिले राज्य को भी भ्रातृप्रेम में स्वीकार नहीं करते हैं और महाभारत में दो दायाद भाई *'सूच्यग्रं नैव दास्यामि,*

विना युद्धेन केशव'[7] कहकर राज्य प्राप्ति के लिए चक्रव्यूह निर्माण करते हैं।

वीरता एक प्रतिमान है। राजस्थान में वीरता पर सतसई तक लिखी गई है। माता पुत्र को पालने में झुलाते हुए वीर भाव से ओत-प्रोत करती रहती है। यहां क्षत्रियों का जन्म ही युद्ध भूमि में वीरता के साथ शत्रु का सामना करने के लिए होता है। वीर युद्धभूमि में पीठ दिखाने की अपेक्षा कटकर मर जाना अपना सौभाग्य समझते हैं। इसलिए कहा जाता है कि एक क्षत्रिय यदि अठारह वर्ष से अधिक आयु तक जीवित रहे तो उसका जीवन धिक्कार है, क्योंकि उसके जीवन का तात्पर्य हुआ कि वह युद्ध भूमि में गया नहीं है अथवा वहाँ उसने अपने रण कौशल का परिचय नहीं दिया है। कहा है–
बारह बरस लौ कूकर जीवै, अरु सोलह लौ जियै सियार।
बरस अठारह छत्री जीवै, आगे जीवन को धिक्कार।।[8]
वीरता, राष्ट्रप्रेम और युद्ध भूमि में प्रदर्शित कौशल प्रतिमान हैं। राष्ट्रप्रेमी योद्धा महाराणा प्रताप पूजनीय हैं, उनकी वीरता और युद्ध प्रेम प्रशंसनीय हैं। *मेवाड़ केसरी देख रहा, केवल रण का न तमाशा था। वह दौड़-दौड़ करता था रण, वह मान-रक्त का प्यासा था।*[9]

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की वीरता जन-जन के मनोमस्तिष्क को प्रभावित करती है। *'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।*[10] पंक्ति सुनकर बूढ़ों की आँखें भी तलवार-सी चमक उठती हैं। यह युद्धप्रियता प्रतिमान है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद युद्ध के विनाश पर प्रश्न उठने प्रारंभ होते हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' रचित 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध और शांति के द्वन्द्व को आधार बनाया गया है। दिनकर शांति को युद्ध की समकक्षता में खड़ा तो करते हैं, परन्तु मानवता व न्याय के लिए उठी तलवार ही विजय प्राप्त करती है। उन्हें स्वीकार करना पड़ता है कि *'जब तक मनुज-मनुज का सुख भाग नहीं सम होगा। शमित न होगा कोलाहल, संघर्ष नहीं कम होगा।।*[11] धर्मवीर भारती के 'अंधा युग' गीतिनाट्य में शांति प्रतिमान बनती है। कौरव भाई युयुत्सु के चरित्र की उद्विग्नता व कुंठा दिखाकर विश्व युद्ध के भयावह परिणामों को प्रत्यक्ष करने और विजय की पृष्ठभूमि का विनाश दिखाने में लेखक सफल रहे हैं। अतः कह सकते हैं कि प्रतिमान परिस्थिति सापेक्ष जीवन मूल्य हैं, जो मानवता व जनहित के अनुसार परिवर्तित अथवा विस्थापित होते हैं।

युद्ध के बाद जगत की स्थिति और मानवीय विचारधारा में परिवर्तन होते रहे हैं, जिसे इन शब्दों में इस रूप से समझा जा सकता है- 'द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभ होने से विश्वभर में महंगाई, बेरोजगारी तथा शोषण का दमन चक्र सर्वत्र बड़ी निर्ममता से चला। समाज की इस दयनीय दशा की ओर साहित्यकार का ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक था। आर्थिक दृष्टि से समाज में उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग, निम्न मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग आदि दिखाई देने लगे और श्रमिक और पूँजीपति वर्ग की उत्पत्ति और इससे शोषित और शोषक वर्ग की उत्पत्ति भी दृष्टिगोचर होने लगी। उपर्युक्त सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक परिवर्तन में यूरोपियन साहित्य का भी प्रभाव था। यूरोपिय साहित्य से एक और फ्रायड का प्रभाव पड़ा जिससे मनुष्य को व्यक्ति रूप में परिकल्पित करके उसके उपचेतन व अचेतन मन की ग्रंथियों को सुलझाने का ही प्रयास होने लगा। दूसरी ओर मार्क्सवाद का भी, जिसमें साहित्य को वर्ग संघर्ष की दृष्टि से देखा जाने लगा तथा व्यक्ति, व्यक्ति न रहकर वर्ग की इकाई मात्र रह गया। प्रयत्नशील मानव की पिछली झाँकी को दिखाने का कार्य ऐतिहासिक अवशेष ही करते हैं। इन्हीं अवशेषों को देखकर मानव निरन्तर प्रगति करता है। लोगों में मनुष्यता भरनी है, तभी पदार्थ में नव का विकास और कल्याण हो सकता है।[12]

राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रभक्ति सर्वत्र आदर्श है, प्रतिमान है। साहित्य में इसकी प्रतिध्वनि होती रही है, परन्तु इसके स्वरूप में समय-समय पर परिवर्तन दृष्टिगोचर होता रहा है। भारतेन्दु युग में राष्ट्रभक्ति के साथ राजभक्ति भी है, वहीं द्विवेदी युग बलिदान और सर्वस्व समर्पण की भावना से भरा है। छायावाद काल की राष्ट्रभक्ति में भावनात्मक विस्तार परिलक्षित होता है और कवि भारतीय संस्कृति, इतिहास, दर्शन व प्रकृति आदि के प्रति प्रेम भाव से

आप्लावित हो मुक्त कंठ से राष्ट्रप्रेम के गीत गाता है- 'अरुण यह मधुमय देश हमारा।[13]

मध्यकालीन साहित्य से आधुनिक काल की गत्यात्मकता के विस्थापन का कारण बताते हुए डॉ. सुरेन्द्र चौधरी द्वारा जो टिप्पणी की गई है, वह साहित्यिक प्रतिमानों के परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रतिध्वनित करती है, 'उदारता की चेतना, मेरी छोटी धारणा के अनुसार, एक विशेष वर्ग की जीवन परिस्थितियों की द्वन्द्वात्मकता की माँग है। यह वर्ग अपने प्रारंभिक उत्थान के युग में निश्चित रूप से क्रियाशील अथवा प्रगतिशील रहता है। भारतेन्दु युग अपनी उदारचेता जीवन विधा के कारण और विचार सरणी के कारण क्रियाशीलता और प्रगति का युग है। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता इसका आधुनिकता बोध नहीं है, बल्कि आधुनिकता की मांग को क्रियात्मक पूर्णता देने की तत्परता है। यह युग एक अभावात्मक परिस्थिति का निषेध करता है (निगेशन ऑफ निगेशन) वहीं इसका अंतर्विरोध सार्थक हो जाता है।[14] वे आगे लिखते हैं– 'व्यक्ति की इच्छा शक्ति जितने विविध धरातलों पर छायावाद युग में बोध (रियलाइजेशन) ढूँढती है, उतनी किसी परवर्ती उत्थान में नहीं।[15]

यहां साहित्य के द्वारा समाज को प्रभावित करना भी एक पक्ष है, इस विषय में अज्ञेय विस्थापित मूल्यों की समझ विकसित करने पर बल देते हैं– यों तो समाज भी एक स्थूल संरचना भी है और एक अमूर्त भाव संरचना भी, लेकिन जब हम समाज को बदलने की बात सोच रहे होते हैं तो उसकी स्थूल संरचना ही हमारे सामने होती है और सम्बन्धों को बदलने की बात करते हुए हम उसकी संरचना के अंतर्संबंधों को बदलने की बात कर रहे होते हैं। यही बात बहुत थोड़े परितर्वन के साथ संस्कृति के बारे में भी कही जा सकती है। उसमें भावना और उसके संस्कारों का महत्त्व कुछ अधिक है, लेकिन बदलने की बात करते समय वहाँ भी हम मुख्यतया आचार-व्यवहार, व्यवस्था को बदलने की बात ही सोच रहे होते हैं। लेकिन साहित्य की बात इनसे बिलकुल अलग है। वहां पर अगर हम संरचना की ही बात करना चाहें तो वह तन्त्र अथवा तकनीकी कौशल की बात हो जाती है। इसमें परिवर्तन लगातार अनिवार्य रूप से होता ही रहता है और अगर हम किसी दूसरे बदलाव की बात सोचना चाहें तो वह अनिवार्यतया संस्कृति और समाज के बदलाव के साथ जुड़ जाती है, मूल्य दृष्टि के साथ जुड़ जाती है, संवेदन के साथ जुड़ जाती है, अपूर्वानुमेय के समूचे क्षेत्र के साथ जुड़ जाती है। प्रकारान्तर से हम यह बात पहले भी कह आये कि समाज और संस्कृति के बदलाव की बात सोचते समय हमारे सामने यह प्रश्न होता है कि ये सत्ताएं अधवा व्यवस्थाएं कैसे अपने को बदल सकती हैं, साहित्य की चर्चा में प्रश्न यह बन जाता है कि साहित्य अपने को नहीं, समाज अथवा संस्कृति को कैसे बदले?[16]

साहित्य के विस्थापनों को कई समीक्षकों ने अपने आलेखों व पुस्तकों में अभिव्यक्ति दी है। नए प्रतिमानों को लेकर लिखी गई पुस्तकों में प्रतिमान स्थापन की ऐसी होड़ मची की साहित्य के विस्थापनों और स्थापनाओं से हटकर मात्र प्रतिमान रचने और खोजने की आड़ में वितण्डावाद रचने की कोशिश की गई। इससे ऊबकर साहित्य में कहा गया कि 'कविता के मूल्यांकन में संरचनावादी दृष्टि कहाँ मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र से टकराती है, इसे जानना हो तो नामवर की यह पुस्तक (कविता के नये प्रतिमान) महत्त्वपूर्ण उदाहरण बन सकती है। जिस तरह हीगेलियन द्वन्द्ववाद विचारों की गत्यात्मकता पर आश्रित है और कालचाप से आपकी प्रत्यवस्थाएँ निर्मित कर उन्हें एक उच्च संश्लेष में बदल लेता है, उसी तरह नामवर का संरचनावादी दृष्टिकोण भी एक कल्पित पूर्णता का संश्लेष बनकर रह जाता है जिसका इतिहास, अनुभव और मानवीय कार्य व्यापारों तथा भावनाओं के मूर्त विश्व से कोई सीधा संबंध नहीं है। .... कविता के नए प्रतिमान वस्तुतः प्रतिमानों की भीड़ है जिसमें सही प्रतिमान दबा पड़ा रह जाता है।"[17]

साहित्य की विषयवस्तु के प्रतिमान समाज व

संस्कृति के अनुरूप ढलते रहे हैं, साथ ही साथ शिल्प पक्ष में भी समय-समय पर विस्थापन दृष्टिगोचर होता है। भाषागत स्तर पर कालक्रम से परिवर्तन सहज है, संस्कृत, अपभ्रंश, ब्रज-अवधि से लेकर हिन्दी के विकास और अद्यतन स्वरूप में आने की प्रक्रिया से हम भली-भांति परिचित हैं। शिल्प के अन्य पक्ष भी परिवर्तन से अछूते नहीं रहे हैं। संस्कृत छंदों में रची जाने वाली हिन्दी कविता लौकिक राग-रागिनियों में निबद्ध होने लगी और छंद मुक्ति से गद्य शैली के युग में आ खड़ी हुई है। जब सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' साहित्य में मुक्त छंद लेकर उपस्थित हुए, तब उनका तीव्र विरोध हुआ परन्तु, कालान्तर में उनका ही रचा शक्ति छंद प्रतिमान बनता है। निराला रचित 'राम की शक्ति पूजा' कविता राम के अंतर्द्वंद्व और निराला के व्यक्तिगत जीवन की अभिव्यक्ति कर साहित्य में नए मानक निर्धारित करती है। समाज, साहित्य व संस्कृति उदात्तता की अनुगामिनी रही है। यह गरिमा, उदात्तता एवं श्रेष्ठता प्रतिमान होने की शर्त है।[18]

विस्थापन के विविध आयाम हैं, जो एक-दूसरे से संबंधित हैं। अशोक वाजपेयी कहते है- 'परिवर्तन भी अनिवार्यतः कई स्तरों पर है– भाषा, शैली, अन्तर्वस्तु, विचार और दृष्टि आदि।[19] इस सबको एकीकृत और सामान्यीकृत करना कठिन काम है और इसे भी अनदेखा नहीं किया जा सकता; हमें जीवन की तरह साहित्य में भी परंपरा की स्थिरता के साथ-साथ परिवर्तन की गतिशीलता भी चाहिये। वर्तमान में साहित्य के समानान्तर पत्रकारिता व जनसंचार का अस्तित्व है। पत्रकारिता का आरंभ समाचार से होता है। समाचार को परिभाषित करते हुए प्रसिद्ध कथन है कि 'अगर कुत्ता आदमी को काटता है तो यह खबर नहीं है, लेकिन यदि आदमी ने कुत्ते को काट लिया है तो यह खबर है। यह कथन दर्शाता है कि समाचार होने के लिए घटना में विशिष्टता अपेक्षित है। समाचार पत्रों में सामान्य घटनाएँ त्याज्य मानी जाती रही हैं। परंतु, टेलीविजन चैनलों की बाढ़ और सामाजिक संचार माध्यमों के विस्तार के बीच मुद्रित माध्यमों के अस्तित्व संरक्षण के लिए स्थानीयकरण वर्तमान की आवश्यकता है। स्थानीयकरण और वैयक्तिकता का सहारा लेकर आज सामजिक संचार माध्यम निरन्तर तीव्र गति से विकास की राह पर अग्रसर है। जनसंचार माध्यमों टेलीविजन, रेडियो, विज्ञापन आदि ने जनमानस की प्रकृति, जीवन मूल्यों व जीवन स्तर में परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज से 30-35 वर्ष पूर्व 80 के दशक में जब पानी, दूध, फलों के रस और लस्सी ही हमारे लिए पेय पदार्थ हुआ करते थे, तब टेलीविजन चैनलों पर विज्ञापन में एक बालिका मधुर मुस्कान के साथ 'आई लव यू रसना' कहती दिखाई देने लगी। शीतल पेय के उत्पाद 'रसना' के विज्ञापन में परोसे जा रहे इस आकर्षण को दर्शकों ने स्वीकार किया और हर घर-परिवार में रसना सर्वाधिक प्रिय पेय बन गया। कालान्तर में जनसंचार माध्यमों ने समाज और संस्कृति के कई प्रतिमानों को विस्थापित किया।

संस्कृति और साहित्य में ऐसे परिवर्तन सतत हैं, जैसा कि अज्ञेय स्वीकार करते हैं 'साहित्य- देशी और विदेशी, हिन्दी और हिन्दीतर साहित्य ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जिसे हम कालजित साहित्य कहते हैं वह कई बार भुला भी दिया जाता है, फिर नए रूप में अवतरित होता है। उसका अर्थ बदल चुका होता है और यह नया अर्थ भी अन्तिम नहीं होता। यह सम्भावना बनी रहती है कि फिर किसी परवर्ती युग में उसमें किसी नए अर्थ का उन्मेष होगा।[20] विजयदेव नारायण साही ने लक्ष्मीकांत वर्मा की पुस्तक 'नयी कविता के प्रतिमान' के संदर्भ में कहा था कि 'अब नई कविता के प्रतिमानों का नहीं बल्कि कविता के नए प्रतिमानों की जरूरत है।[21] इसके विपरीत समाज संरचना में नए प्रतिमानों की नहीं बल्कि नए समाज के लिए प्रतिमान स्थापित करने की आवश्यकता महसूस होने लगी है। प्रतिमानों के विस्थापन की इस सतत प्रक्रिया में परम्परा भी महत्त्वपूर्ण है और नवस्थापित मूल्य भी वांछित होते हैं। दोनों का संतुलन जीवन निर्वाह के अवसरों का यथार्थ है। 'न परिवर्तन रोके जा सकते हैं, न परंपरा को दबाया जा सकता है।

यह पहचान भी कभी धूमिल नहीं पड़नी चाहिये कि एक को अपने औचित्य के लिए दूसरे की जरूरत होती है। जैसे जीवन में वैसे ही साहित्य में, हमारा काम दोनों के बिना नहीं चल सकता। हमें परंपरा की स्थिरता और आश्वस्ति और परिवर्तन का तेज और गतिशीलता दोनों ही चाहिये।[22]

प्रतिमानों का विस्थापन जीवन और जगत का भयावह यथार्थ भी है और 'नित-नित नूतन होय' की अनिवार्यता भी है। जैसा कि यह सर्वविदित है- विस्थापन एक तरह की अपने मूल से बिछड़ने की पीड़ा लेकर आता है। साथ ही एक नये परिवेश और संस्कृति का भय लेकर भी आता है। विस्थापित मनुष्य अपनी संस्कृति को बचाने के प्रयास के साथ-साथ नये देश और उसकी संस्कृति को समझना और अपनाना भी चाहता है। उसे अपनी पुरातन संस्कृति के खोने का भय भी है और नए परिवेश और संस्कृति को आत्मसात न कर पाने पर अलग-थलग पड़ने का डर भी। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि नव प्रतिमान अपनी विशिष्टता के कारण स्थापित होते हैं, प्रचलित को विस्थापित करते हैं, परन्तु प्रतिमानों का विस्थापन विकास नहीं है। यह द्विपक्षी अवस्था है, जहाँ दिन-रात, सुख दुःख की तरह विपर्यय होता रहता है। हम एक स्थिति से ऊबकर दूसरी स्थिति में जाते हैं परन्तु, पहली के द्वार बंद नहीं होते हैं। प्रतिमानों के विस्थापन को सह अस्तित्व व समायोजन की दृष्टि से स्वीकार करना आवश्यक है। परिस्थिति सापेक्षता के साथ जीवन व जगत में सतत विस्थापन अनिवार्य हैं। प्रतिमानों के विस्थापन अनिवार्य हैं परंतु, नव प्रतिमानों की स्थापना मानवहित व जगतहित के विवेक से हो इसका ध्यान रखना हर व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य है।

संदर्भ सूची

1. पंत, सुमित्रानंदन (फरवरी 1934) युगांत द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली (2004) भाग-1, राजकमल प्रकाशन। **2.** द्विवेदी, हजारी प्रसाद, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-9, (2013) निबंध- मेरी जन्मभूमि, राजकमल प्रकाशन। **3.** पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, (2023) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 173। **4.** त्रिपाठी, डॉ. विश्वनाथ, डॉ. बिन्दु माधव मिश्र, मध्यकालीन हिन्दी काव्य, (2004) भूमिका, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 6। **5.** पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, (2023) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-1। **6.** वेदव्यास, महाभारत-शान्ति पर्व। **7.** वेदव्यास, महाभारत। **8.** मिश्र, सं.पं ललिताप्रसाद, आल्हखण्ड, (2007) तेजकुमार बुक डिपो प्रा. लि.। **9.** पाण्डेय, श्यामनारायण, श्यामनारायण पाण्डेय ग्रंथावली (2023) 'हल्दीघाटी-कविता, प्रभात प्रकाशन प्रा. लि.। **10.** चौहान, सुभद्राकुमारी, किंडल एडिशन, सेनेज पब्लिशिंग हाउस (2020) झाँसी की रानी- कविता। **11.** दिनकर, रामधारी सिंह, कुरुक्षेत्र महाकाव्य (2013) तृतीय सर्ग, राजपाल एंड संस। **12.** चोहान्नन, सी. एम., कहानी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (यशपाल और केशवदेव) (2007) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 31। **13.** प्रसाद, जयशंकर, चन्द्रगुप्त नाटक (2007) राजकमल प्रकाशन। **14.** चौधरी, डॉ. सुरेन्द्र, इतिहास : संयोग और सार्थकता, खण्ड-1, पेपरबैक संस्करण (2009) अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, पृ. 233। **15.** पूर्वोक्त पृ. 227। **16.** अज्ञेय, निबंध- संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, संपादन कन्हैयालाल नंदन, हिन्दी समय, ISSN-2394-6687। **17.** चौधरी, डॉ. सुरेन्द्र, इतिहास : संयोग और सार्थकता, खण्ड-1, पेपरबैक संस्करण (2009) अंतिका प्रकाशन, ग़ाज़ियाबाद, पृ. 213। **18.** वाजपेयी, अशोक, सत्याग्रह (ऑनलाइन पत्रिका) 27 नवंबर 2016। **19.** जैन, कनिका, समाचार लेखन, संपादन एवं प्रस्तुतीकरण (2022) जान बी बोगार्ट- समाचार की परिभाषा, भाषा प्रकाशन, नई दिल्ली। **20.** अज्ञेय, साहित्य, निबंध- संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, संपादन कन्हैयालाल नंदन, हिन्दी समय। **21.** डबराल, मंगलेश, आलेख नामवर सिंह : हिन्दी के 'नामवर' यानि हिंदी के प्रकाश स्तंभ, बीबीसी-हिन्दी, 20 फरवरी, 2019। **22.** वाजपेयी, अशोक, निबंध- हमें जीवन की तरह साहित्य में भी परंपरा की स्थिरता के साथ-साथ परिवर्तन की गतिशीलता भी चाहिये, सत्याग्रह (ऑनलाइन पत्रिका) 27 नवंबर 2016।

❑❑

सहायक आचार्य (हिंदी)
कामेश्वर सिंह, दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय,
दरभंगा, मो. : 9461523578,
E-Mail: vidusheeameta@gmail.com

विस्थापित उपन्यास में व्यक्त शरणार्थियों की वेदना

अपर्णा भारती

अगस्त 1947 में भारत का विभाजन कर इसे दो संप्रभु राष्ट्रों, भारत संघ और पाकिस्तान में बांट दिया गया था। इसके पश्चात भारत एक स्वतंत्र गणराज्य बना, जबकि पाकिस्तान एक इस्लामी गणराज्य बना। विभाजन से बहुत से लोग प्रभावित हुए। लोग पाकिस्तान और हिंदुस्तान की ओर पलायन हुए। दोनों देशों की नई सरकारों के पास हिंसा और अपराध से निपटने के लिए आवश्यक प्रबन्ध नहीं था। फलस्वरूप दंगे हुए और बहुत से लोगों को जान गंवानी पड़ी। महिलाओं के साथ अपहरण और बलात्कार की घटनाएं हुईं। भारत में विभाजन और उसके साथ हुए दंगे-फसाद पर कई लेखकों ने उपन्यास और कहानियां लिखी हैं जिनमें प्रमुख लेखक हैं– यशपाल, भीष्म साहनी, अमृता प्रीतम, कमलेश्वर आदि। ज्ञानप्रकाश विवेक का नाम भी उल्लेखनीय है। उन्होंने लगभग दस उपन्यास लिखे हैं जिनमें से विस्थापित उपन्यास विभाजन पर आधारित है।

ज्ञानप्रकाश विवेक जी का जन्म 30 जनवरी 1949 को बहादुरगढ़ (हरियाणा) में हुआ है। ज्ञानप्रकाश विवेक जी आधुनिक युग के लोकप्रिय व बहुचर्चित रचनाकारों में से हैं। इन्होंने बी. ए. संध्याकालीन शासकीय महाविद्यालय, बहादुरगढ़ से पूरी की। एम. ए. हिन्दी में पत्राचार योजना के तहत पूर्ण की। इन्होंने स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति के बाद पूर्णकालिक लेखन शुरू किया। गज़ल, कहानी, कविता, उपन्यास, आलोचनात्मक पुस्तकें आदि साहित्यिक विधाओं में इन्होंने अपनी लेखनी चलाई है। इन्हें हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा वर्ष 2021 में आजीवन साहित्य साधना सम्मान और 'डरी हुई लड़की' उपन्यास पर इन्दु शर्मा अंतरराष्ट्रीय कथा सम्मान (यूके) से पुरस्कृत किया गया है।

विभाजन एक ऐसी दुर्घटना थी जिसने सैंकड़ों लोगों की जिंदगी को नष्ट करके विस्थापित होने को विवश कर दिया। नरेंद्र मोहन के मतानुसार-'यह एक विचित्र विरोधाभास है कि जिस दिन सदियों पुराना हमारा स्वाधीनता का सपना पूरा हुआ उसी दिन विभाजन के दुःस्वप्न का प्रारंभ भी हुआ। वे मूल्य और मान्यताएं जिनके लिए स्वाधीनता संग्राम के दिनों में संघर्ष करते रहे, विभाजन के दिनों में और उसके बाद हम उन मूल्यों और मान्यताओं की धज्जियां उड़ती देखते रहे।[1] विभाजन ने लाखों लोगों को मानसिक तौर पर प्रभावित किया। ज्ञानप्रकाश विवेक उपन्यास में लिखते हैं–'सवारी गाड़ी में हम सवार हैं। हमसे ज्यादा हमारा खौफ़ सवार है। हमारा खौफ बोगी में हमसे पहले सवार हो गया है। ऐसा लगता है वो एक गैर-जरूरी सामान की तरह रहा है। गैर-जरूरी चीज़ें ज़िंदगी में कितना ज्यादा दखल पैदा करती हैं, जैसे कि यह खौफ़। जो

दिखाई न देने के बावजूद, हमें नज़र आता है।'[2] विभाजन से लोगों के बीच सन्नाटा पसर गया। वे एक-दूसरे से बात करना भूल गए। लोग अपने सगे-सम्बन्धियों से बिछुड़ गए। लेखक के शब्दों में- 'मैं अपने भाइयों का सोच रहा हूं, पता नहीं वो कहाँ होंगे? रेलगाड़ी में होंगे या किसी स्टेशन पर? ज़ालिमों ने कहीं सबका क़त्ल ही न कर दिया हो– यह सोचकर मैं अपने अंदर तक कांप जाता हूँ'।[3] विभाजन ने लोगों में इतनी नफरत पैदा कर दी कि लोग एक-दूसरे के खून के प्यासे हो गए थे। विभाजन से पूर्व लोग जिस स्थान पर रहते थे विभाजन पश्चात वह एक अलग देश के हो गए। दो भिन्न धर्मों के लोग जहाँ भी देखे जाते हैं उन्हें बड़ी बेरहमी से मार दिया जाता। दुष्कर्म, आगज़नी तथा कत्ल आम बात हो गई थी। उदाहरणस्वरूप लेखक का कहना है- 'किस औरत को उठाकर ले गए और किस मर्द का घर के अंदर घुसकर क़त्ल कर दिया– ये वारदातें दिल दहला देने वाली होतीं, जिन्हें सुनकर हम तड़प उठते। इस तड़प के पीछे खौफ़ ये होता कि अब हमारा क्या होगा?'[4] लोग दुखी थे कि उन्हें अपना बसा-बसाया घर छोड़कर दूसरी जगह जाना पड़ रहा है जहाँ उनका कुछ भी नहीं है। उनमें ख़ामोशी छा गई विस्थापन की। उपन्यास का प्रमुख पात्र पुरुषोत्तम कहता है– 'हम अपने घर में, बंजारों जैसे बेकैफ़, बेचैन, बेलज्जत। घर में हैं सब लेकिन विस्थापित-विस्थापन से पहले का विस्थापन है यह। कितने अजनबी लग रहे हैं हम एक-दूसरे को। सब खामोश। कोई किसी से नहीं बोलता।'[5] विस्थापन से उपजी निराशा को लेखक ने इन शब्दों में व्यक्त किया है– 'बसे-बसाये घर को छोड़ना आसान नहीं होता एक रिश्ता बन जाता है दीवारों से, दीवारों की खूंटियों से। कड़ियोंवाली छत और छत में चिड़ियों के घोंसले से। घर को हमेशा के लिए छोड़ना विवश होकर छोड़ना, बहुत मुश्किल होता है। घर अपनी हज़ार बांहों के साथ रोकने की कोशिश करता है। किवाड़ की दस्तकें रोकने की कोशिश करती हैं और सांकलें, हाथ में लिपट जाती हैं। दहलीज पाँव पकड़ लेती है और आँगन का खड़ंजा, हज़ारों आहटों की गुल्लकें रख देता है सामने।'[6]

भारत विभाजन की मिसाल विश्व में मिलनी मुश्किल है। इतने व्यापक पैमाने पर विभाजन पर इतना भयावह नरसंहार कभी नहीं हुआ। एक ही जमीन पर निवास करने वाली समान जातीय भावना एवं संस्कृति से बंधी जातियों का ऐसा देशान्तरण अभूतपूर्व था। बंटवारे के पश्चात् महमूदकोट में रहने वाले हिन्दू पात्र पुरुषोत्तम के लिए वह जगह पाकिस्तान बन गई। उन्हें हिंदुस्तान जाने के लिए थानेदार पांच मिनट का वक्त देता है। उन्हीं के शब्दों में- 'हमने शायद रोटी भी ठीक से नहीं खाई थी। अभी चूल्हे में आंच थी। अभी तवे पर रोटियां थीं। अभी चकले पर रोटी की पेड़ी थी। अभी पेड़ी को बेला जाना था। अभी परात में गुंथा हुआ आटा था। अभी गिलासों में दूध था, थालिओं में रोटियां!'[7] वह वहां से निकल पड़ते हैं। रास्ते में उन्हें चीखें सुनाई देती हैं– 'आवाजें करीब आती जा रही थीं।' चीखें साफ़ सुनाई दे रही थीं। इन चीखों के बीच-अल्लाह हो अकबर-का नारा सुनाई देता। और– मारो सई, जलाओ सई की आवाजें बहुत करीब आ चुकी थीं।'[8] विभाजन के वक्त औरतों के साथ दुष्कर्म किया गया। वह अपने परिवार से बिछड़ने पर जिन्दा रहने की बजाय मौत को चुनना पसन्द करती हैं। लेखक के शब्दों में– 'छपाक की आवाज अब भी मेरे कानों में टकरा रही है। एक दुबली-पतली, सुंदर-सी लड़की, बहुत बहादुर थी– हमसे ज्यादा बहादुर। नहीं, हम बहादुर नहीं थे। कमजोर थे हम। बैठे रहे ट्रक में वो बहादुर थी। वहशियों के चंगुल में फंसने से ज्यादा उसे कुएं में डूबना अच्छा लगा।'[9] वह परिवार के साथ गाड़ी में नहीं बैठ पाई थी। हालात ऐसे थे कि सफ़र करते हुए लोगों को कई दिनों तक भूखा रहना पड़ता है। उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुंचने का इंतजार है। ट्रेन में बैठे पति-पत्नी एक दूसरे को हिन्दुस्तान पहुंचने का दिलासा देते हैं जबकि स्वयं भी डरे-सहमे हुए हैं जो इन पंक्तियों में व्यक्त होता है- 'ये बात मैंने कह तो दी है लीला को तसल्ली देने के लिए,' लेकिन यकीन जैसा लफ़्ज़ मेरे पास नहीं है। किसी के पास भी नहीं यकीन, लेकिन उम्मीद तो है। जब स्टेशन पर रुकती है। वहशी आवाजें उभरती हैं। चीखें सुनाई देती हैं तो

लगता है, आगे कहीं इस डिब्बे का दरवाज़ा भी वो तोड़ देंगे और फिर उसके बाद हम सब कत्ल कर दिए जाएंगे।'[10] नव निर्मित देश हिंदुस्तान पहुंचने पर एक तरफ लोग खुश हैं कि अब उन्हें जान का कोई खतरा नहीं है परन्तु दूसरी तरफ वे यह जानकर भयभीत हैं कि उनके पास अपना कोई ठिकाना नहीं है जहाँ वे जा सकें। उनके मन में चल रही उधेड़बुन का वर्णन लेखक के शब्दों में इस प्रकार है– 'कुछ लोग अब भी डरे-से लगते हैं। डर के साथ जीना जैसे उनकी आदत बन गई हो। एक सच्चा डर हम सबमें है कि आखिर हम कहाँ जाएंगे? कि आखिर हमारी मंजिल क्या है? कि आखिर हम बेघरों की सुध कौन लेगा? वहां हम ज़ालिमों से बच आए, यहाँ, भूख हमें मार देगी– ये सवाल एक नईं बेचैनी की तरह सबके दिल में होगा।'[11] पुरुषोत्तम बहादुरगढ़ स्टेशन पर उतर कर अपने बिछड़े वतन को याद कर कहता है- 'मेरे वतन! कितना मुश्किल होता है घर को छोड़ना।' बहुत मुश्किल से बना था घर और वही छोड़ दिया। मेरे प्यारे वतन! ले, सारी कायनात तेरे हवाले कर आया हूं। खाली हाथ खड़ा हूं, थका हुआ, उदास, बोझिल, मेरा आख़िरी सलाम तुझ तक पहुंचे।'[12] वे धर्मशाला में रहने के लिए जाते हैं। कमरे में ले जाते हुए शंभू से दम्पती दुखी मन से कहते हैं- 'शम्भू, यूँ समझ कि सब कुछ लुट गया है। रिफ्यूजी बनकर खाली हाथ यहाँ चले आए हैं। दो दिन यहाँ रहेंगे। फिर पता नहीं कहाँ भटकते फिरेंगे।'[13] विभाजन से लोगों को गहरा सदमा पहुँचता है। एक अनजान जगह पर खुद को बेबस महसूस करते हैं जहाँ उनके हाथ में कुछ भी नहीं है- 'सुबह का वक्त है।' हम दोनों उठ बैठे हैं। दोनों ने एक-दूसरे को देखा है, व्याकुल नज़रों से। खाली-से बैठे हैं हम। हम दोनों सोच रहे हैं दिन की शुरुआत कैसे करें? महमूदकोट होता तो हम दोनों उठकर अपनी-अपनी दिनचर्या में मसरूफ हो जाते। सब कुछ तयशुदा। जैसे लिखित स्क्रिप्ट। यहाँ न दिनचर्या है, न कोई स्क्रिप्ट।'[14] शम्भू की मदद से उन्हें घर मिल गया और वह उसे अपना ठिकाना समझकर रहने लगे- 'महमूदकोट तक की ज़िन्दगी हमारी एक ज़िन्दगी थी, जिसे हम गुज़ार चुके हैं। आज से हम एक नई ज़िन्दगी की शुरुआत करेंगे। इस पुराने घर से नई ज़िन्दगी की शुरुआत।'[15] पुरुषोतम की महमूदकोट स्टेशन के रिलीविंग लेटर पर बहादुरगढ़ स्टेशन पर नौकरी की बहाली हो जाती है, घर लौटकर पत्नी लीला को बताते हुए वह लिखते हैं– 'मैंने जेब से ज्वाइनिंग लेटर की कार्बन कॉपी निकालकर उसे पेश की है। पढ़कर वो खिलखिलाकर हंसी है। उसका खिलखिला... इतना बेफिक्र, इतना बेबाक खिलखिलाना पहली बार हुआ है लेटर लेकर वो इतना खुश है जैसे नौकरी की ज्वाइनिंग मेरी नहीं, उसकी हो रही हो।'[16]

पुरुषोत्तम प्रतिदिन नौकरी पर जाने लगता है। स्टेशन मास्टर उससे संवेदना प्रकट करते हुए कहता है-- 'सबसे बड़ा दुख उजड़ने का होता है। कल तक जिस मिट्टी पर आप बड़े तमतराक के साथ उठते-बैठते थे, आज उस मिट्टी से आप बेदखल कर दिए गए। बेचैन आप हैं तो आपके लिए बेचैन वो मिट्टी भी है, जिसे आप छोड़ आए।'[17] वे जहाँ भी जाते हैं उन्हें अजीब नज़रों से देखा जाता है। उन्हें शरणार्थी या रिफ्यूजी कहकर बुलाया जाता। यही शब्द उनकी पहचान बन गए। टिकट कलेक्टर पुरुषोत्तम को एक आदमी टिकट थमाते हुए व्यंग्य करते हुए कहता है–'शरनारथी जी, इतना अकड़कर मत खड़े हुआ करो। मामूली-से टिकट बाबू हो और फिर शरनारथी!'[18] अपना-अपना काम छोड़कर आए इज्जतदार, शानो-शौकत वाले, ख़ास तरह का रुतबा और ठसक रखने वाले भी हिंदुस्तान पहुंचकर बच्चों की खातिर छोटे-मोटे काम करने में जुट जाते हैं- 'शरणार्थी मेहनतकश थे या फिर वक्त ने उन्हें मेहनतकश बना दिया था। उन्होंने वो काम चुने जो समाज से बेदखल थे। कोई जवान होता लड़का रेलवे लाइन में कोयले चुनने निकल पड़ता। स्टीम इंजनों का कोयला रेलवे लाइन में थोड़ा-थोड़ा गिरता रहता था। एक जवान होते लड़के ने अजीब काम ढूंढ निकला। वो लिफाफे बनाता। दुकानदारों को लिफाफे बेचता। सौ लिफ़ाफे बनाने में दिन निकल जाता। काम मेहनत का लेकिन मेहनताना बहुत कम!'[19] लोग मनचाहा सलूक करते

हैं। उदाहरणस्वरूप- 'गिर पड़ा था वहीं धरमा। चौधरी ने पीछे से लात जो मारी थी। ख़ुद को संभाला, उठा, करनी बसौली को धोया, चौधरी से काम करने के पैसे माँगे। चौधरी ने तैश में आकर कहा– भाग जा यहाँ से, पैसे माँगे तो चमड़ी उधेड़ दूंगा।'[20] केसरदास पुरुषोत्तम से विस्थापन का दर्द बयाँ करता है जिसे लेखक इस प्रकार लिखता है- 'केसरदास बहुत गमजदा है'। वो बोलता है, रो पड़ता है। उसने एक मकान में तो शरण ले ली है, लेकिन शरण देने वाला मकान और शरण लेने वाला, मकान में ज़ार-ज़ार रोता है। चुप कराने वाला कोई नहीं होता। ख़ुद रो-रोकर चुप हो जाता है। उसने यह भी कहा है कि सब कुछ पीछे छूट गया है, जो साथ आए हैं वो दिल के दुखड़े हैं, वो आँखों के आंसू हैं।'[21] लेखक का कहना है- 'हर शख़्स एक जैसे दुख के धागे से बंधा है, सब विस्थापित होकर आए हैं। सब थोड़े-से सामान के साथ और दुख के अंबार के साथ आए हैं। सब अकेले हैं, इसलिए जब वो किसी हमवतनी से मिलते हैं तो किसी अपनेपन का एहसास उनमें जाग उठता है।'[22] सरकार पर कटाक्ष कर लेखक कहता है- 'विस्थापितों का दुख सरकारें नहीं समझ सकतीं, सियासतदान तो बिल्कुल नहीं, विस्थापित का दुख सिर्फ विस्थापित जान सकता है।'[23]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विस्थापन मूल रूप से एक ऐसी समस्या है जो सब कुछ खत्म कर देती है। भारत विभाजन की घटना भारतीय राजनीति के इतिहास में उल्कापिंड की तरह मानी जाती है जिसके पैरों तले समस्त भारत तड़प उठा। विश्व में ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसमें वर्षों से भाईचारे के साथ निवास करने वाले दो धर्म पारस्परिक वैमनस्य के कारण एक-दूसरे के दुश्मन बन गए। विभाजन ने दोनों के बीच न टूटने वाली दीवार खड़ी कर दी। भारत भूमि का बंटवारा भारतीय इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना थी जिसे ज्ञानप्रकाश विवेक जी ने विस्थापित उपन्यास में व्यक्त किया है।

सन्दर्भ सूची

1. मोहन, नरेंद्र, विभाजन की त्रासदी, भारतीय कथा दृष्टि, पृ.30। **2.** विवेक, ज्ञानप्रकाश, विस्थापित, रुद्रादित्य प्रकाशन, 2022, पृ.5। **3.** वही पृ.9। **4.** वही पृ.10। **5.** वही पृ.17। **6.** वही पृ.17। **7.** वही पृ.27। **8.** वही पृ.27। **9.** वही पृ.34। **10.** वही पृ.40। **11.** वही पृ.43। **12.** वही पृ.49। **13.** वही पृ.59। **14.** वही पृ.68। **15.** वही पृ.75। **16.** वही पृ.90। **17.** वही पृ.103। **18.** वही पृ.115। **19.** वही पृ.136। **20.** वही पृ.141। **21.** वही पृ.92। **22.** वही पृ.93। **23.** वही पृ.93।

❐❐

शोधार्थी, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

bhartiaparna22@gmail.com

मो. 8899315097

- *साधु भी देश की सेवा वैसे ही कर सकते हैं, जैसे गृहस्थ।*
- *साधु में यदि आध्यात्मिक निधि नहीं है, तो वह मानवता का कलंक है।*
- *भारत के साधु यदि नशेबाजी और दुर्व्यसनों का त्याग कर देश के रचनात्मक कामों में लग जायें, तो वे जनता को अपने पक्ष में कर सकते हैं।*
- *साधुओं से तो मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि वे अपने धर्म, संस्कृति और देश के नाम को न डूबने दें।*

अभिमन्यु अनत की कविताओं में मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति

डॉ. शशि कुमार शर्मा

हिंदी जगत में प्रख्यात तथा मॉरीशस के हिंदी कथा-साहित्य के शीर्षस्थ प्रवासी साहित्यकार अभिमन्यु अनत का जन्म 9 अगस्त, 1937 ई. को मॉरीशस के उत्तर प्रांत में स्थित त्रियोले नामक गांव में हुआ था। 4 जून, 2018 ई. को 81 वर्ष की उम्र में उनका देहांत हो गया। जन्म और मृत्यु के बीच की जो यात्रा है, उसे जीवन कहा जाता है। अभिमन्यु अनत का जीवन चुनौतियों, संघर्षो और समस्याओं से घिरा हुआ था। आर्थिक कठिनाइयों के कारण वे सुचारु रू प से औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाए। अध्ययन के प्रति लगन, किसी भी चीज को बारीकी से जानने की हार्दिक इच्छा ने ही उन्हें उत्कृष्ट कलमकार के रूप में निर्मित किया। इसी का परिणाम है उनका विपुल साहित्य-भंडार। वे एक कर्मठ, सजग, संवेदनशील और प्रतिबद्ध रचनाकार हैं। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन साहित्य की सेवा में समर्पित कर दिया। 'नागफनी में उलझी साँसें' (1977 ई.), 'कैक्ट्स के दाँत' (1982 ई.), 'एक डायरी बयान' (1985 ई.), 'गुलमोहर खौल उठा' (1944 ई.) उनके काव्य-संग्रह हैं। 'नाटकों में विरोध' (1981 ई.), 'गूंगा इतिहास' (1983 ई.), 'रोक लो कान्हा' (1986 ई.), 'उड़ते रहेंगे सफेद बाज' (1988 ई.), 'भरत सम भाई' (1990 ई.), 'देख कबीरा हाँसी' आदि उनके नाटक हैं। उपन्यास और कहानी साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने मील का पत्थर तय किया है। 'और नदी बहती रही' (1970 ई.), 'आंदोलन' (1971 ई.), 'एक बीघा प्यार' (1992 ई.), 'चौथा प्राणी' (1977 ई.), 'लाल पसीना' (1977 ई.), 'और पसीना बहता रहा' (1993 ई.), 'हम प्रवासी' (2004 ई.) आदि उनके उपन्यास हैं। 'खामोशी की चीत्कार' (1976 ई.), 'इंसान और मशीन' (1976 ई.), 'एक थाली समंदर' (1987 ई.) तथा 'अब कल आएगा यमराज' (2003 ई.) आदि उनके कहानी-संग्रह हैं।

अभिमन्यु अनत की कविताएँ मानवीय संवेदना से निःसृत हैं। शब्द, रूप, रस, गंध या स्पर्श की होने वाली अनुभूति ही संवेदना है।[1] दूसरों के कष्टों के प्रति जागरू क तथा सहानुभूतिशील होने या रहने की अवस्था या भाव ही संवेदना है। वरिष्ठ आलोचक नामवर सिंह ने लिखा है, 'संवेदना किसी मूर्त मानवीय व्यक्ति का आधार लेकर खड़ी होती है और एक निश्चित संदर्भ में पैदा होती है।'[2] अपनी रचनात्मक ऊर्जा और मौलिक अंतर्दृष्टि का परिचय उन्होंने अपनी कविताओं के साथ-साथ अपने उपन्यासों और अपनी कहानियों में भी दिया है। अपने विचार और संवेदना के विलक्षण सामंजस्य के बल पर ही उन्होंने अपनी कविताओं को एक उपजाऊ और उर्वर भूमि प्रदान किया है। उनका साहित्य एक ओर भारतीय संस्कृति, परंपरा और मानवीय मूल्यों से अपना सरोकार स्थापित करता है, तो वहीं दूसरी ओर व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह, सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति तथा शोषकों के खिलाफ प्रतिरोध का स्वर भी मुखरित करता है।

कवि की कविताएँ आत्मीयता और संवेदना से परिपूर्ण हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में मजदूरों की पीड़ा, दर्द और त्रासदी को यथार्थ की पृष्ठभूमि पर अंकित किया है। गोरो के लिये मजदूर, मनुष्य नहीं काम करने वाले मशीन मात्र हैं। वे दिन-रात यंत्र की भांति व्यवस्था रूपी इस क्रूर तंत्र में पीसते रहते, तिल-तिलकर मरते रहते। अगर कोई आवाज उठाने की कोशिश भी करता, तो उसकी आवाज को उठने के पहले ही दबा दिया जाता। कोड़ों के बल पर, बंदूक की गोलियों के बल पर। मजदूरों के ऊपर हुए इस प्रकार के भयानक शोषण, अन्याय एवं अत्याचार का पर्दाफाश कवि ने 'खामोशी' नामक कविता में इस प्रकार किया है–

'मेरे पूर्वजों के सांवले बदन पर/ जब बरसे थे कोड़े/ तो उनके चमड़े/ लहूलुहान होकर भी चुप थे/ चीत्कारता तो था/ गोरे का कोड़ा ही/ और आज भी/ कई सीमाओं पर/ बंदूकें ही तो चिल्ला-कराह रही हैं/ भूखे नागरिक तो/ शांत सो रहें हैं/गोलियाँ खाकर।'[3] श्रमिकों के जीवन की यह विडम्बना आज भी अनेकों जगह विद्यमान है। कठोर परिश्रम के पश्चात भी उन्हें उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता। वे भूखे हैं फिर भी शांत हैं, क्योंकि बंदूकें चिल्ला रही हैं, जो भूखे हैं, उन्हें गोलियाँ खिला रही हैं। साहित्यकार, इतिहास की उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं को भी परत-दर-परत खोलकर रख देता है, जो परत के नीचे दबा है। अभिमन्यु अनत जी ने इस प्रकार की अभिव्यक्ति के खतरों को अपनी रचनाओं में उठाया है। मॉरीशस के इतिहास में दबी लोमहर्षक त्रासदी को, वेदना को, पीड़ा को अपनी कविताओं में रेखांकित कर समाज और देश के कोने-कोने तक पहुँचाया है। गौतम बुद्ध ने लिखा है, 'तीन चीजें कभी नहीं छिपतीं- सूरज, चंद्रमा और सत्य।' अभिमन्यु जी ने भी 'वह अनजान आदमी' शीर्षक कविता में इतिहास की गोद में दफन 'सत्य' से हम सभी को इस प्रकार रू-ब-रू कराया है– *'आज अचानक/ हवा के झोकों से/ झरझरा कर झरते देखा/ गुलमोहर की पंखुड़ियों को/ उन्हें खामोशी में झुलसते छटपटाते देखा/ धरती पर धधक रहे अंगारों पर/ फिर याद आ गया अचानक/ वह अनलिखा इतिहास मुझे/ इतिहास की राख में छुपी/ गन्ने के खेतों की वे आहें याद आ गयीं/ जिन्हें सुना बार-बार/ द्वीप का प्रहरी मुड़िया पहाड़/ दहल कर कांपा बार-बार/ डरता था वह भीगे कोड़ों की बौछारों में/ इसलिए मौन साधे रहा।'*[4]

अनत जी अपनी कविताओं में काला इतिहास का भी चित्रण करते हैं। वे कहते हैं कि ऐसे अनेक यथार्थ जो मनुष्य से होकर गुजरे हैं, उन्हें अनदेखा कर दिया गया है। ये सभी घटनाएँ मनुष्य जाति की त्रासदी के मुकम्मल दस्तावेज हैं। पर इतिहास और इतिहासकार ने अपने को इससे पृथक रखा। कवि ने इतिहास की इस उदासीनता और चुप्पी को गूंगे इतिहास की संज्ञा दी है। अंधे इतिहास की इस ज्वलंत गाथा को अभिमन्यु जी ने अपनी कविताओं में बारीकी से लिपिबद्ध किया है। अर्थात उन पीड़ित मजदूरों के चीत्कार, उनकी घुटन और मर्मांतक पीड़ा को इतिहास ने नज़रअंदाज किया। कवि ने इतिहास के इस भयावह रूप को इस प्रकार अंकित किया है– *'न ही बहरे इतिहास ने सुना था उसके चीत्कारों को/ जिसकी इस माटी पर बही थी पहली बूँद पसीने की/ जिसने चट्टानों के बीच हरियाली उगायी थी/ नंगी पीठों पर सहकर बाँसों की बौछार/ बहा-बहाकर लाल पसीना/ वह पहला गिरमिटया इस माटी का बेटा/ जो मेरा भी अपना था तेरा भी अपना।'*[5]

इतिहास के अध्ययन से हमें अतीत की स्मृतियों से रू बरू होने का अवसर मिलता है। विद्वानों का मानना भी है कि जो कौम अपना इतिहास नहीं जानता, वह कभी भी इतिहास रच नहीं सकता। अभिमन्यु अनत की दृष्टि उस इतिहास पर जाकर ठहरती है जो सही अर्थो में गूंगा है। जो अपनी पीड़ा और लोमहर्षक त्रासदी को व्यक्त करने के लिए तड़प रहा है, लेकिन सत्ता पर जिनकी पकड़ है, वे उस दर्दनाक इतिहास से हमें अनभिज्ञ रखना चाहते हैं। कवि की संवेदना सत्त से नहीं, मनुष्यता से है। अतः वे गिरमिटिया मजदूरों के उस धधकते इतिहास को अपनी कविताओं में लिपिबद्ध करते हैं, जिस पर सत्ताधारी वर्ग अपनी छवि साफ-सुथरा रखने के लिए पर्दा डालने का हर संभव प्रयास करते हैं। अभिमन्यु अनत ने इन इतिहास निर्माताओं व भाग्य विधाताओं पर तंज कसते हुए लिखा है– *'आज*

का कोई इतिहास नहीं होता/कल का जो था/ वह जब्त है तिजोरियों में/ और कल का जो इतिहास होगा/ वह इतिहास को नकारने का इतिहास होगा/ अधगले पंजरों पर / सपने उगाने का।'[6]

'गूंगा इतिहास' नामक कविता में कवि ने मनुष्य जीवन के इसी हकीकत को निम्नवत शब्दों में दर्शाया है- *'पेट में एक खाली कुआँ/ तार-तार हुआ फेफड़ा/ उलझी हुई साँसें/ गिरवी आत्मा/ पैबंद लगा वर्तमान/ बारह अध्याय का यह इतिहास/ आज भी अकुला रहा है/ खेतों में पसीने की जमी हुई परत पर/ जहाँ-तहाँ लाल बूंदें/ चमक रही हैं/ इद बैलगाड़ी के पहिये के निशान/ अब भी पगडण्डी पर/ गुज़र गयी ईख का बोझ लिये/ शक्कर का खाली बोरा ओढ़े / इतिहास आज भी बोआई कर रहा है।'*[7]

अभिमन्यु अनत संवेदनशील कवि हैं। उनकी काव्य-यात्रा संवेदना से पूरित है। मनुष्यता की वकालत करना व असामाजिक तत्त्वों के खिलाफ प्रतिरोध का स्वर मुखरित करना उनकी रचनाओं का प्रतिपाद्य है। सामंती मानसिकता के विरोध में उनकी कविताएँ डट कर खड़ी होती हैं। मनुष्यों की दयनीय दशा, लोमहर्षक त्रासदी, मजदूरों की चीख, संताप आदि उनकी कविताओं का मूल विषय रहा है। सीधे-सादे, अनपढ़ भारतीय लोगों को गिरमिटिया मजदूर बनाकर त्रिनिडाड, सूरिनाम, मॉरीशस तथा फीजी आदि देशों में प्रलोभन देकर ले जाया गया। सिर्फ पुरुषों को ही नहीं अपितु स्त्रियों को भी गुमराह किया गया। यहाँ तक कि स्त्रियों का भी शोषण हर तरह से किया गया। उस समय के प्रवासी साहित्यकारों ने इस तरह के जघन्य, बर्बर और संवेदनशून्य घटनाओं को अपनी रचनाओं में उजागर किया। प्रवासी साहित्यकार कमला प्रसाद मिश्र ने एक औरत की व्यथा-कथा को अपनी कविता में इस प्रकार से चित्रित किया है– *'जो मैं ऐसा जानती, फीजी आए दुख होय/ नगर ढिंढोरा पीटती/ फीजी न जईयो कोय।'* अर्थात इन पंक्तियों से जाहिर हो जाता है कि विदेश जाकर प्रवासी बनने का दंश व जमीनी हकीकत का पता अगर जाने से पूर्व होता तो शायद ही कोई वहाँ गुलाम बनने के लिए हामी भरता। पानी जीवन है। इसी जीवन की लालसा में प्रवासी मजदूर विदेशों में जाने के लिए तैयार हो गये। जब सच्चाई से वे रूबरू हुए तब उन्हें इस बात का भान हुआ कि पानी के बदले उन्हें मृगमरीचिका दिखाई गई। आर्थिक स्वतंत्रता के बदले उन्हें शारीरिक और मानसिक गुलामी ही नसीब हुई।

अभिमन्यु अनत की कविताओं की अतल गहराई में एक ओर अनुभूति की प्रधानता है तो वहीं दूसरी ओर भोगा हुआ यथार्थ की गहनता और व्यापकता। साहित्य सृजन में साहित्यकार यथार्थ के निकट पहुँचने की कोशिश में रहता है। इसे सार्थक बनाने के प्रयत्न में साहित्यकार कल्पना का भी समावेश अपनी रचनाओं में करता है। प्रवासी साहित्य और भारतीय साहित्य में एक मूलभूत या बुनियादी अंतर यह भी है कि भारतीय साहित्य विदेश को कल्पना के आधार पर चिन्हित करता है, जबकि प्रवासी साहित्य इसे यथार्थ की पृष्ठभूमि पर निरूपित करता है। भारतीयों के संघर्षपूर्ण जीवन, चुनौतियों और उनके मनोविज्ञान को जितनी प्रामाणिकता के साथ प्रवासी साहित्य प्रस्तुत करता है, उतनी बारीकी से भारतीय साहित्य उजागर नहीं कर सकता। कोई भी भारतीय जो विदेशों में बसा है, उसकी संस्कृति और संस्कार की जड़ें कितनी गहराई तक अपनी पकड़ बना पाई है, इन तमाम बातों को वहीं, उन्हीं के साथ रहकर ही जाना, पहचाना जा सकता है और आत्मसात करके उसे वाणी दी जा सकती है, न कि उनसे दूर रहकर।

मॉरीशस में भारतीय मजदूरों को शोषित, अपमानित और जिल्लत भरी नारकीय जीवन जीने के लिए विवश किया जाता था। उनके संघर्ष और उनके अस्तित्व की समस्याएँ चुनौतियों से भरी थीं। कठोर परिश्रम के बावजूद भी उन्हें और उनके परिवार वालों को न ही सही से भोजन नसीब होता था और न ही उचित पारिश्रमिक प्राप्त होता था। ऐसी कशमकश भरी जिंदगी को लेकर वे जाएं तो कहाँ जाएं? करें तो क्या करें? विवश होकर अपने घुटने टेककर मालिकों के सामने रोने और हाथ फैलाने के अतिरिक्त उनके पास कोई चारा न था। 'नागफनी में उलझीं साँसें' कविता संग्रह की पहली कविता में इस नग्न यथार्थ को कवि ने इन शब्दों में रूपायित किया है– *'तुमने, आदमी को*

खाली पेट दिया/ ठीक किया/ पर एक प्रश्न है रे नियति/ खाली पेटवालों को/ तुमने घुटने क्यों दिये? फैलानेवाला हाथ क्यों दिया?'[8]

अभिमन्यु अनत ने प्रेम से संबंधित कविताएँ बहुत कम लिखी हैं। जबकि जाना जाता है कि अपने यौवन काल में कई युवतियों से उनका विशेष लगाव व अनुराग था। प्रेम में रहकर उनकी कविताएँ प्रेम से वंचित रहीं। स्वयं कवि इसकी पुष्टि करते हुए कहता है, 'प्रेम-गीत इसलिये नहीं लिख पाया क्योंकि किसी भी लड़की ने मुझे वह वियोग नहीं दिया जो मेरे भीतर कविता को जन्म देता। दर्द मुझे समाज और उसके खोखले आदर्शों ने दिया है। मेरा अपना कोई प्रेम भी असफल नहीं रहा, क्योंकि मैं विवाह को प्रेम की परकाष्ठा और सफलता नहीं मानता।'[9]

'इश्तहारों के वायदे' नामक कविता में कवि ने बंधुआ मजदूरों पर हुए उत्पीड़न, अत्याचार और उनकी बेबसी को चित्रित किया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि ये मजदूर बेबस हैं, लाचार हैं। इन्हें अपनी सीमाओं की भलीभांति जानकारी है। इन्हें पता है कि सत्ता में बैठे अधिकारिक वर्ग, पुलिस और उनके कानून सब एक-दूसरे के साथ मिले हैं। उनके अंदर से जो चीख निकलती है, उस पर अमल नहीं किया जाता, अपितु उस चीत्कार को बंदूक के बल पर दबा दिया जाता है या हमेशा के लिए बंद कर दिया जाता है। अर्थात ये पूरी व्यवस्था इनके साथ पशुतुल्य व्यवहार करती है। कवि को उनकी चीख अंदर से कुरेदती है, बेचैन करती है। इनकी कविताएँ इंसानियत से अपना सरोकार स्थापित करती हुई व्यवस्था रूपी पोल का पर्दाफाश करती हैं– *'तुम्हारे पास पुलिस है, हथकड़ियां हैं/ लोहे की सलाखें वाली चारदिवारी है/ मुझे गिरफ्तार करके चढ़ा दो सूली/ उसी माला को रस्सी बनाकर/ जो कभी तुम्हें पहनाया था/ क्योंकि मैंने तुम्हारे ऊपर के विश्वास की/ बड़ी बेरहमी से हत्या कर दी है।/ इस जुर्म की सज़ा मुझे दे दो।/ मैं इन इश्तहारों को/ अब सह नहीं पा रहा हूँ।'*[10]

इस प्रकार कवि उनके साथ अपनी संवेदना को व्यक्त करते हुए, उनके पक्ष में गुहार लगाते हुए दिखाई पड़ते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अभिमन्यु अनत की कविताएँ अप्रवासी मजदूरों की संघर्षगाथा की कविता है। इसकी परिधि में श्रमिक वर्ग की पीड़ा, दर्द, आर्थिक संकट, परिवार से दूरी, पराये देश का बेगानापन, शारीरिक एवं मानसिक गुलामी, रंग-भेद-भाव की जिल्लत एवं भाषागत समस्या है तथा नाभिकीय धुरी या केन्द्रबिंदु में इन तमाम घुटनशील परिस्थितियों से छुटकारा पाने की छटपटाहट है। अतः अनत जी की कविताएँ जहाँ एक ओर गरीबों, शोषितों, पीड़ितों एवं दबे-कुचलों के जीवन से सरोकार स्थापित करती हैं, निर्धन वर्ग की आर्थिक विपन्नता, विवशता, दयनीय एवं जर्जर स्थिति का चित्रण करती हैं, वहीं दूसरी ओर इन श्रमिकों और बुजुर्गों की दर्दनाक ऐतिहासिक गाथा को रेखांकित करती हैं।

संदर्भ

1). वर्मा, रामचंद्र (संपा.), बृहत् प्रामाणिक हिंदी कोश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं.-2012, पृ.-929। **2).** सिंह, नामवर, नामवर विचार कोश, महेंद्र राजा जैन, नयी किताब, नयी दिल्ली, सं.-2012, पृ.-337। **3).**अनत, अभिमन्यु, खामोशी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.-2003, पृ.- 52। **4).** अनत, अभिमन्यु, वह अनजान आदमी, खामोशी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.-2003, पृ.-81। **5).** अनत, अभिमन्यु, गुलमोहर खौल उठा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.-2003, पृ.-94। **6).** गोयनका, कमल किशोर (संपा.), अभिमन्यु अनत समग्र कविताएँ, इरावती प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण : 1998 ई., पृष्ठ-72। **7).** गोयनका, कमल किशोर (संपा.), अभिमन्यु अनत समग्र कविताएँ, इरावती प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण : 1998 ई., पृ.-90। **8).** गोयनका, कमल किशोर (संपा.), अभिमन्यु अनत समग्र कविताएँ, इरावती प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण : 1998 ई., पृष्ठ-71। **9).** गोयनका, कमल किशोर (संपा.), अभिमन्यु अनत समग्र कविताएँ, इरावती प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण : 1998 ई., पृ.-38। **10).** अनत, अभिमन्यु, इश्तहारों के वायदे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.-2003, पृ.-87।

❑❑

असिस्टेंट प्रोफेसर- हिंदी विभाग,
वर्द्धमान विश्वविद्यालय, गुलाबबाग,
पिन-713104, (प. बंगाल) मो. 8509580494
Email Id: shashibu07@gmail.com

व्यंग्य और व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई

डॉ. पंकज साहा

आज से लगभग पचपन वर्ष पूर्व हिंदी उपन्यास पर विचार करते हुए आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने प्रेमचंद के संदर्भ में लिखा था, 'प्रेमचंद उस शिखर के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के उतार-चढ़ाव हैं।' किसी को असहमत होने का पूरा अधिकार है, परंतु सच्चाई यह है कि यह स्थापना आज भी बरकरार है। व्यंग्य के क्षेत्र में यही बात श्री हरिशंकर परसाई के लिए कही जा सकती है। डा. अजय तिवारी ने 'स्वाधीन भारत और इंस्पेक्टर परसाई' नामक लेख में लिखा है, 'हिंदी में व्यंग्य की परंपरा थी। कबीर, ग़ालिब, भारतेंदु, निराला आदि इसके गौरव शिखर थे। परसाई जी ने उस परंपरा का उत्तराधिकार प्राप्त किया, उस पर गर्व करते हुए एक नयी मंजिल तक उसका विकास किया, लेकिन यह मंजिल इतनी ऊंची है कि उनके बाद कोई दूसरा उसके आस-पास तक जाता हुआ भी दिखाई नहीं पड़ता।'[1]

आज हरिशंकर परसाई व्यंग्य के पर्याय मान लिये गये हैं, परंतु परसाई जी ने स्वयं को व्यंग्यकार नहीं, व्यंग्य का सौदागर कहा था तथा व्यंग्य को विधा न मानकर 'स्पीरिट' माना था। परंतु सच्चाई यह भी है व्यंग्य को विधा के चौखट तक ले जाने का श्रेय उन्हीं को जाता है। व्यंग्य साहित्य की विधा है या नहीं, इस पर विवाद हो सकता है, परंतु व्यंग्य में साहित्य होता है, इस पर कोई विवाद नहीं है। डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'प्रगति और परंपरा' में लिखा है, 'लेखक सारथी होता है, जो लीक देखता हुआ, साहित्य की बागडोर संभाले हुए उसे उचित मार्ग पर ले चलता है। प्रतिकूल भूमि पर भी वह नयी लीक बनाता है।'[2] प्रतिकूल भूमि पर नयी लीक बनाने की परंपरा हिंदी साहित्य में कबीरदास से चलती है, जो आधुनिक काल में भारतेंदु, प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त, प्रेमचंद, उग्र, निराला, नागार्जुन, धूमिल, दुष्यंत कुमार, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना प्रभृति में अलग-अलग अंदाज में दिखलाई पड़ती है। यह नया अंदाज ही वह नयी लीक है, जिसे व्यंग्य का नाम दिया गया है। हिंदी साहित्य में व्यंग्य की धारा कहीं प्रखर वेग से बहती दिखाई पड़ती है, कहीं अंडर करंट के रूप में। परसाई जी की रचनाओं में व्यंग्य दोनों रूपों में दिखलाई पड़ता है। उनकी व्यंग्य-शक्ति को लक्ष्य कर सुप्रसिद्ध कवि बाबा नागार्जुन ने अपनी कविता 'वाणी ने पाये प्राणदान' में लिखा है–

'छूटने लगे अविरल गति से, जब परसाई के व्यंग्य-वाण,
सरपट भागे तब धर्मध्वजी, दुष्टों के कंपित हुए प्राण।'[3]

पहला प्रश्न है– व्यंग्य क्या होता है? एक वाक्य में कहें तो व्यंग्य हंसी-मजाक में कड़वी बात कहने की एक कला है। इसमें सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक विसंगतियों, विडंबनाओं पर चुटीला प्रहार किया जाता है। परंतु व्यंग्य तलवार की तरह घाव नहीं देता, बल्कि सूई चुभोने या च्यूंटी काटने जैसी पीड़ा देता है। करुणा को व्यंग्य की आत्मा माना जाता है। दूसरा प्रश्न है– व्यंग्य क्या करता है?

इस संदर्भ में परसाई जी ने कहा है, 'व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है, जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखंडों का परदाफाश करता है।'[4]

तीसरा प्रश्न है– व्यंग्य की शर्त क्या है? व्यंग्य की प्रमुख शर्त है, उसका निर्वैक्तिक होना और व्यंग्यकार का कार्य है दूसरों की बुराई ढूंढने से पहले अपनी बुराई ढूंढना एवं उसे जगजाहिर करना। कबीरदास हिंदी के पहले सशक्त व्यंग्यकार माने जाते हैं। उन्होंने अपने बारे में लिखा था–

'बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलया कोय।
जो दिल देखा आपना, मुझसे बुरा न कोय।'

कबीर निरक्षर थे, परंतु उन्होंने अपने समय के समाज को पढ़ा था। परसाई जी पढ़े-लिखे थे। उन्होंने कबीर को पढ़ा था एवं आत्मसात किया था। तभी तो कबीर की तरह बेधड़क होकर वे कह सके, 'मैं डरा नहीं, बेईमानी करने से भी नहीं डरा। अपने गर्दिश के दिनों को याद करते हुए एक साक्षात्कार में कहा था कि उन दिनों जब जेब में पैसे नहीं होते थे, कई बार उन्होंने बिना टिकट रेलयात्रा की थी। हमारे देश में जब इमरजेंसी लगी, तब अनेक लेखकों, पत्रकारों ने उसका समर्थन किया था। परसाई जी ने भी इमरजेंसी का समर्थन एवं जयप्रकाश-आंदोलन का विरोध किया था। सत्ता परिवर्तन के बाद इमरजेंसी के अनेक समर्थक लेखक-पत्रकार कहने लगे थे कि वे तो इमरजेंसी के विरोधी थे। लेकिन परसाई जी ने निर्भीकतापूर्वक स्वीकार किया था कि 'हां, हमने इमरजेंसी का समर्थन और जे.पी. आंदोलन का विरोध किया था, क्योंकि जे.पी. के साथ जो लोग थे, वे सब पूंजीवादी थे, शोषक थे।' स्वीकारोक्ति का यह साहस उन्हें कबीर के निकट ले जाता है। आजादी के बाद देश के हालात अत्यंत तेजी से बदले। देशवासियों ने सुख-शांति के जो सपने देखे थे, वे धूल में मिल गये। सामान्य जनता की पीड़ा को देखकर दुष्यंत कुमार ने अत्यंत ठंडे शब्दों में व्यंग्य किया था–

'कहां तो तय था चिरागां हर एक घर के लिए।
कहां चिराग़ मयस्सर नहीं, शहर के लिए।'

लेकिन राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने ओजस्वी वाणी में प्रहार किया था–

'पूछा रहा है जहां चकित हो जन-जन देख अकाज।
सात वर्ष हो गये, राह में अटका कहां स्वराज?
अटका कहां स्वराज? बोल दिल्ली तू क्या कहती है?
तू रानी बन गयी, वेदना जनता क्यों सहती है?'

परसाई जी की पैनी नजर देश के बदलते हालातों पर लगातार बनी हुई थी। एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा था, 'आजादी के बाद विसंगतियां बहुत पैदा हुईं, क्योंकि भ्रष्टाचार, अवसरवाद, आकांक्षा, दोमुंहापन, पाखंड ये सब-के-सब खुलकर सामने आये। सामाजिक विसंगतियां और उसके अंतर्द्वंद्व इतने हैं कि वे खुलकर मेरे सामने स्पष्ट हो गये।' एक प्रसंग का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा कि एक नेता अपने कस्बे में गया तो लोगों ने उसे घेर लिया। उससे उन्होंने कहा कि आप नारा लगवाते थे कि 'इंकलाब जिंदाबाद, उजड़े घर होंगे आबाद।' भैया इंकलाब आये तो चार, पांच, छह साल हो गये हैं। हम अब-तक उजड़े हुए हैं। नेता ने जवाब दिया, 'वह नारा तुम्हारे मकान के बारे में नहीं था, मेरे मकान के बारे में था।' परसाई जी बड़े लेखक थे, प्रखर चिंतक थे, लेकिन उन्होंने व्यंग्य को ही अपने लेखन का माध्यम क्यों बनाया? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि 'विसंगतियां न केवल राजनीतिक क्षेत्र में बल्कि आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में, परिवार में, व्यापार में, शिक्षा में, ये मुझे सब जगह परिलक्षित होने लगीं। मुझे ये प्रेरित करती थीं कि मैं लिखूं। तब मुझे लगा कि अच्छा माध्यम इसे व्यक्त करने का व्यंग्य है। ऐसी परिस्थिति यदि समाज की हो, तो व्यंग्य सबसे अच्छा माध्यम होता है। आलोचना का, साक्षात्कार का और परिवर्तन की चेतना जगाने का। इसलिए मैंने व्यंग्य को स्वीकार किया।'[5]

परसाई जी प्रतिबद्ध लेखक थे। उनकी प्रतिबद्धता समाज के शोषित जनों के प्रति थी। उन्होंने अपने समकालीन समाज की विसंगतियों की कड़ी आलोचना की थी। उन्होंने कहीं लिखा है कि 'समाज को सक्रिय बेइमानों से उतना खतरा नहीं है, जितना निष्क्रिय ईमानदारों से।' उनका ऑब्जर्वेशन गजब का था। अपनी प्रखर दृष्टि से वे व्यक्ति के पाखंड एवं सामाजिक सड़न को देख लेते थे और अपने व्यंग्य-वाणों से उन पर तीखे प्रहार करते थे।

आजादी के बाद से ही भारतीय राजनीति में 'राज' का महत्व बढ़ता गया एवं 'नीति' का पतन होने लगा। राजनेताओं के चारित्रिक स्खलन एवं स्वभाव में परिवर्तन के कारण आमलोगों में यह धारणा बनने लगी कि जहां

राजनीति घुसती है, वहां बुराइयां पैदा होती हैं। देश के राजनीतिक घटनाक्रमों पर परसाई जी की पैनी नजर थी। 'प्रतिनिधि व्यंग्य' की भूमिका में उन्होंने लिखा है, 'मेरे पास राजनैतिक व्यंग्य रचनाओं का भंडार है।'[6] मुख्यमंत्रियों, मंत्रियों, नेताओं या उनके जरिए आधुनिक शासकों की राजनीति का उन्होंने बेबाकी से पर्दाफाश किया है। नेताओं, मंत्रियों के लिए जनता सिर्फ वोट होती है। यही जनता जब अपनी मांगों के लिए आंदोलन करती है और उनके शांतिपूर्ण आंदोलन पर पुलिस फायरिंग में जब कुछ लोग मारे जाते हैं, कुछ घायल हो जाते हैं, तो प्रदेश के मुख्यमंत्री उनका हिसाब बनिये की तरह करने लगते हैं, 'जो मरा, उसके परिवार वालों को पांच हजार रुपए देंगे। जो ज्यादा घायल होकर अस्पताल में हैं, उसे हजार रुपए। जिसकी सिर्फ मरहम-पट्टी हुई है, उसे ढाई सौ रुपए। हो गया हिसाब।'[7] आगे परसाई जी लिखते हैं, 'इन मुख्यमंत्रियों से अब काम नहीं मांग सकते, रोटी नहीं मांग सकते। इनसे अब सिर्फ एक ही मांग की जा सकती है– मरनेवाले आदमी की कीमत बढ़ाओ हुजूर! पांच हजार बहुत कम होते हैं। सब जिन्सों के दाम बढ़ गये हैं, आदमी का भी दाम बढ़ाइए।'[8] इस कथन में जो व्यंग्य है, उसके भीतर करुणा की अंतर्धारा साफ देखी जा सकती है।

जैसे नेताओं ने गांधी जी को भुनाया वैसे समाजवाद को भी बहुत भुनाया है और आज भी भुना रहे हैं। लगभग सभी राजनीतिक दलों ने समाजवाद का माला इतना अधिक जपा है कि जनता की आंखें समाजवाद का पथ निहारते-निहारते पथरा गयी हैं। परंतु नेताओं ने समाजवाद की जो फजीहत की है, उसपर व्यंग्य करते हुए परसाई जी ने 'ठिठुरता गणतंत्र' में लिखा है, 'समाजवाद परेशान है। उधर जनता भी परेशान है। समाजवाद आने को तैयार खड़ा है, मगर समाजवादियों में आपस में धौल-धप्पा हो रहा है। समाजवाद एक तरफ उतरना चाहता है कि उसपर पत्थर पड़ने लगते हैं। 'खबरदार उधर से मत जाना!' एक समाजवादी उसका हाथ पकड़ता है, तो दूसरा उसका हाथ पकड़कर उसे खींचता है। तब बाकी समाजवादी छीना-झपटी करके हाथ छुड़ा देते हैं। लहूलुहान समाजवाद टीले पर खड़ा है।'[9]

इसी तरह साम्राज्यवादी शक्तियों पर व्यंग्य करते हुए वे अपने निबंध 'सड़क बन रही है' में लिखते हैं, 'इस बीच दुनिया के सारे कुचलने वाले सुडौल हो गये। साम्राज्यवाद ने पहले की कुरूपता त्याग कर सुंदर रूप ले लिया है।'[10]

प्रेमचंद के बाद परसाई जी भारतीय सामाजिक जीवन के सबसे बड़े लेखक हैं। दोनों ने समाज की विसंगतियों की आलोचना की है, लेकिन प्रेमचंद का स्वर थोड़ा नरम था, जबकि परसाई जी कड़ा प्रहार करते थे। 'लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि उनका (परसाई जी) दृष्टिकोण कहीं भी नकारात्मक नहीं हो पाता। उनकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि उनमें व्यंग्य जैसे आलोचना के तीखे माध्यम को भी रचनात्मक बनाने की गजब की ताकत है।'[11]

परसाई जी सामान्य जन के प्रति प्रतिबद्ध थे, अतः समाज के कमजोर वर्ग को छोड़कर उन्होंने लगभग सब पर व्यंग्य किया है। तथाकथित बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है, 'बुद्धिजीवी वह होता है, जो किसी सत्ता या दाता के हरम की रक्षा करे।'[12] हिंदी के लेखकों की महत्वाकांक्षा पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने 'पगडंडियों का जमाना' में लिखा है, 'चार कहानियां लिखकर लोग युग-प्रवर्तक की लिस्ट में नाम खोजने लगते हैं।'[13] इसी तरह उन्होंने एक जगह लिखा है, 'उस गधे को देखो। वह मैदान की सारी घास चर जाने की महत्वाकांक्षा से कितना प्रसन्न है, जैसे कोई लेखक एक विध्वंसक लेख लिखकर साहित्यिक नेता बनने के मंसूबे पाले।' अपनी स्वप्न कथा 'सदाचार का तावीज' में बिना कोई सुधारवादी संकेत दिये उन्होंने बताया है कि सिर्फ सदाचार का तावीज बांध लेने से आदमी ईमानदार नहीं होगा। इस कहानी पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है, 'बिना व्यवस्था में परिवर्तन किये, बिना भ्रष्टाचार के मौके कम किये और कर्मचारियों को बिना आर्थिक सुरक्षा दिये, भाषणों, सर्कुलरों, उपदेशों, सदाचार समितियों, निगरानी आयोगों के द्वारा कर्मचारी सदाचारी नहीं होगा।'[14] भ्रष्टाचार हमारे देश में पहले भी था, पर स्वतंत्रता के बाद भ्रष्टाचार में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। इसकी मुख्य वजह यह है कि स्वतंत्रता के बाद धंधेबाज धर्मगुरुओं का भी सत्ता से गठजोड़ हो गया। इस गठजोड़ का समाज पर क्या असर पड़ता है, इसका उद्घाटन भी 'सदाचार का तावीज' में हुआ है।

'भोलाराम का जीव' परसाई जी की ऐसी कहानी है, जिसमें उन्होंने अंग्रेजों द्वारा चलायी गयी नौकरशाही की चक्की में पिसनेवाले आम आदमी की विवशता एवं

लाचारी को बड़ी शिद्दत से उभारा है।

व्यंग्य लिखना अत्यंत साहस का काम होता है। कायर, चाटुकार, पुरस्कार/सम्मान की प्राप्ति में व्यस्त रहने वाले, सत्ता के गलियारों में चक्कर लगाने वाले लेखक व्यंग्यकार नहीं हो सकते। ईमानदारी से सच को उजागर करने एवं कबीर की तरह अपना घर फूंकने का उनमें साहस होना चाहिए। 'पवित्रता का दौर' परसाई जी का अत्यंत साहसिक निबंध है। इसमें उन्होंने बड़ी ईमानदारी से स्वीकारा है, 'सोचता हूं, हम कहां के पवित्र हैं। हममें से अधिकांश ने अपनी लेखनी को रंडी बना दिया है, जो पैसे के लिए किसी के भी साथ सो जाती है। सत्ता इस लेखनी से बलात्कार कर लेती है और हम रिपोर्ट तक नहीं करते। कितने नीचों की तारीफ मैंने नहीं लिखी। कितने मिथ्या का प्रचार मैंने नहीं किया। अखबारों के मालिकों का रुख देखकर मेरे सत्य ने रूप बदले हैं। मुझसे सिनेमा के चाहे जैसे डायलॉग कोई लिखा ले। मैं इसी कलम से बलात्कार की प्रशंसा में भी फिल्मी गीत लिख सकता हूं और भगवद्भजन भी लिख सकता हूं। मुझसे आज पैसे देकर मजदूर-विरोधी अखबार का संपादन करा लो और कल मैं उससे ज्यादा पैसे लेकर ट्रेड यूनियन के अखबार का संपादन कर दूं।'[15]

इतना ही नहीं, परसाई जी मार्क्सवादी विचारधारा के थे, फिर भी, अपने निबंध 'संस्कारों एवं शास्त्रों की लड़ाई' में भारत के तथाकथित मार्क्सवादियों के पाखंड को उन्होंने अत्यंत रोचक ढंग से उजागर किया है।

रोचकता उनकी भाषा-शैली की अन्यतम विशेषता है। भाषा में अंतर्निहित ह्यूमर को पकड़ने में वे उसी तरह माहिर थे, जैसे चेखव। उनकी एक लघुकथा है– 'आधुनिक'। इसमें उन्होंने लिखा है– एक राजा वेश बदलकर अपने मंत्री के साथ प्रजा की हालत देखने निकलता था। एकदिन राजा साहब एक खिड़की से झांक रहे थे। वहां एक आदमी जनेऊ पहने, चंदन लगाये बर्थ-डे केक काट रहा था। राजा ने मंत्री से पूछा, 'यह क्या है?' मंत्री ने कहा, 'हुजूर, यह भारतीय आधुनिकता है।'[16] इसमें अत्यंत ह्यूमरस ढंग से भारतीयों के पाखंड को उजागर किया गया है।

धर्म का विकृत रूप किस तरह लोगों में अंधविश्वास पैदा करता है, यह हम प्रेमचंद और परसाई में समान रूप से देख पाते हैं। प्रेमचंद को धर्म के ठेकेदारों पर चोट करने के लिए अधिक साहस का परिचय देना पड़ा था। इसीलिए उनके अनेक विरोधियों ने उन्हें 'घृणा का प्रचारक' कह डाला था। किंतु वे विचलित नहीं हुए थे। परसाई जी ने भी हिंदू समाज एवं हिंदू धर्म की विकृतियों, पाखंडों, अंधविश्वासों को तो अपनी कहानियों एवं लघुकथाओं जैसे– 'नदी को दान', 'रसोईघर और पाखाना', 'भगवान को घूस' आदि के माध्यम से उजागर किया ही है, जैनियों के पाखंडों को भी 'क्षमावाणी', 'भक्तों में मारपीट' जैसी लघुकथाओं के द्वारा उजागर किया है। इन्हीं कारणों के चलते उनके विरोधियों की संख्या बहुत थी और उनपर शारीरिक प्रहार भी हुए थे, परंतु वे विचलित नहीं हुए। कुल मिलाकर वे अत्यंत निर्भीक लेखक थे। उनकी निर्भीकता एवं प्रतिभा को प्रणाम करते हुए बाबा नागार्जुन ने 'वाणी ने पाये प्राणदान' कविता में लिखा है– *'रवि की प्रतिमा को नमस्कार, शनि की प्रतिमा को नमस्कार। वक्रोक्ति विशारद, महासिद्ध, हरि की गरिमा को नमस्कार।'*[17]

संदर्भ

1.वसुधा-41, जून:1998, पृ.251। **2.** किताब महल, इलाहाबाद, सं.1949, पृ.3। **3.** नागार्जुन रचनावली -2, राजकमल प्रकाशन, सं.2003, पृ.235। **4.** सदाचार का तावीज, ज्ञानपीठ पेपरबैक, सं.1985, पृ.9-10। **5.** वसुधा-41, जून 1998, पृ.91-92। **6.** राजकमल पेपरबैक्स, सं. 1983, पृ.7। **7.** मुर्दे का मूल्य, प्रेमचंद के फटे जूते, सं. ज्ञानरंजन, भारतीय ज्ञानपीठ, सं.2009,पृ. 290। **8.** वही, पृ.291। **9.** प्रतिनिधि व्यंग्य, राजकमल पेपरबैक्स, सं.1983, पृ.112। **10.** प्रेमचंद के फटे जूते, सं. ज्ञानरंजन, भारतीय ज्ञानपीठ, सं.2009, पृ.137। **11.** श्याम कश्यप, परसाई रचनावली-2, राजकमल प्रकाशन, सं.2012, पृ.4। **12.** जिंदगी और मौत का दस्तावेज, प्रेमचंद के फटे जूते, सं. ज्ञानरंजन, भारतीय ज्ञानपीठ, सं.2009, पृ.111। **13.** वही, पृ.76। **14.** सदाचार का तावीज, ज्ञानपीठ पेपरबैक, सं.1985, पृ.11। **15.** प्रेमचंद के फटे जूते, सं. ज्ञानरंजन, भारतीय ज्ञानपीठ, सं.2009, पृ.118। **16.** परसाई रचनावली-2, राजकमल प्रकाशन, सं.2012, पृ.344-345। **17.** नागार्जुन रचनावली-2, राजकमल प्रकाशन, सं. 2003, पृ.236।

- भूतपूर्व एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी-विभाग,
खड़गपुर कॉलेज, खड़गपुर-721305 (प. बंगाल)
मो. 9434894190
ईमेल- dr.pankajsaha@gmail.com

जूठन कुप्रथा का प्रतिफलन 'अक्करमाशी' और 'जूठन'

अनूप प्रसाद

शोध सारांश- हिन्दी आत्मकथा साहित्य के अंतर्गत जिन महत्त्वपूर्ण कृतियों की चर्चा की जाती है उनमें 'अक्करमाशी' और 'जूठन' काफी प्रसिद्ध है। शरणकुमार लिंबाले कृत 'अक्करमाशी' और ओमप्रकाश वाल्मीकि कृत 'जूठन' मात्र आत्मकथा न होकर सदियों से हाशिये पर ढकेले गये दलित और उपेक्षित जनमानस के नारकीय जीवन की कटु अनुभूतियों का शब्दचित्र है। सही मायने में ये आत्मकथाएँ एक ओर मानवीय संवेदनाओं की पड़ताल करती हैं, तो दूसरी ओर प्रबुद्ध जनों से प्रश्न करती हैं कि आज भी दलितों की स्थिति में कोई खास परिवर्तन क्यों नहीं आया? प्रस्तुत शोध आलेख इन्हीं प्रश्नों के माध्यम से दलित समुदाय के जीवन से जुड़कर इनका उत्तर तलाशने का एक सहज प्रयास है।

बीज शब्द- दलित, छुआछूत, उत्पीड़न, राष्ट्रीय भावना, अस्मिता।

उद्देश्य- समाज के वंचित, पीड़ित, शोषित और असहाय वर्ग की पीड़ा और वेदना से रू-ब-रू होते हुए विषमतामूलक भारतीय समाज-व्यवस्था के इतिहास को समझना और सदियों से प्रताड़ना को चुपचाप सहन करने वाले दलितों में सामाजिक चेतना को उत्पन्न करना ही प्रस्तुत शोध पत्र का मूल उद्देश्य है।

शोध प्रविधि- प्रस्तावित शोध पत्र 'जूठन कुप्रथा का प्रतिफलन-अक्करमाशी और जूठन आत्मकथा के विशेष संदर्भ में' जूठन और अक्करमाशी के मूल पाठ का अध्ययन करते हुए व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग करते हुए निष्कर्षो को प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय समाज में जाति व्यवस्था जितनी पुरानी है, उतनी ही पुरानी है- उसके विरुद्ध विद्रोह और संघर्ष की परंपरा। 'दलित' शब्द व्यापक अर्थ बोध की अभिव्यंजना करता है। सदियों से भारतीय समाज और साहित्य ने जिसे शूद्र कहकर शोषित उत्पीड़ित होने के लिए हाशिये पर छोड़ दिया था, वही आज 'दलित' है। दलित चिंतक कँवल भारती के अनुसार 'दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतन्त्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित है।'[1] आशय यह कि पूँजीपति वर्ग द्वारा समाज में रहने वाले दलितों का आर्थिक और मानसिक रूप से शोषण किया जाता है। साथ ही समाज के उच्च वर्गों के द्वारा उन्हें समाज के घृणित कार्यो को करने के लिए मजबूर किया जाता है। जिससे उनके जीवन के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और वे जीवन के हर क्षेत्र में असफल हो जाते हैं।

शरणकुमार लिंबाले ने दलित की परिभाषा देते हुए लिखा है, 'गाँव की सीमा के बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियाँ, आदिवासी, भूमिहीन, खेत मजदूर, श्रमिक, कष्टकारी जनता और यायावर जातियाँ सभी की सभी 'दलित' शब्द की परिभाषा में आती हैं।[2] गाँव की सीमा से तात्पर्य है एक विशेष तरह का क्षेत्रफल जहाँ केवल समाज के उच्च वर्ग के लोग रहते हैं उस सीमा के बाहर रहने वाले सभी लोग चाहे वह मजदूर हो, भूमिहीन हो, कृषक हो सभी दलित कहलाते हैं। भारतीय समाज और साहित्य ने इन पीड़ित और वंचित समुदाय के लोगों को समाज में शोषित- उपेक्षित होने के लिए छोड़ दिया है।

दलित साहित्य सदियों से पीड़ित मानवता की पुकार है। हिंदी साहित्य में गौतम बुद्ध, ज्योतिबा फुले तथा बाबा साहेब अम्बेडकर की विचारधराओं को विकसित करने में शरणकुमार लिंबाले और ओमप्रकाश वाल्मीकि आदि दलित साहित्यकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन्होंने हिंदी साहित्य में एक नई अस्मितावादी धारा की नींव रखी। दलित साहित्य के संबंध में विद्वानों में भ्रांति है कि दलित साहित्य वह है जिसे दलितों ने स्वयं लिखा है, जो स्वानुभूति पर आधारित है। दलित साहित्य यथार्थ का साहित्य है। दलित चिंतक कँवल भारती के अनुसार 'दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रुपायित किया है। अपने जीवन-संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है।'[3] 'दलित साहित्यकारों द्वारा अपने जीवन और समाज को आधार बनाकर लिखा गया कटु सत्य ही दलित साहित्य की श्रेणी में आता है जो कल्पना से पूर्णतः मुक्त है। मोहनदास नैमिशराय ने दलित साहित्य को दलितों के सर्वांगीण विकास और उनकी अस्मिता की रक्षा की वकालत करने वाला बताते हुए लिखा है, 'दलित साहित्य पीड़ा, वेदना अथवा मुक्ति का ही साहित्य नहीं, बल्कि वह अपने अधिकारों, अस्मिता और पहचान के लिए संघर्ष करने वालों का साहित्य हैं।'[4] कुल मिलाकर दलित शब्द पीड़ित, प्रताड़ित के अर्थ को वहन करते हुए जब साहित्य से जुड़ता है तब वह धार्मिक रूढ़ियों को, सामाजिक विसंगतियों को, आर्थिक विषमताओं को आधार बनाकर यथार्थ जीवन को साहित्य का विषय बनाता है। समाज में आमूल परिवर्तन इस साहित्य का लक्ष्य है। दलित साहित्य संघर्ष की कोख से उपजा नकार का साहित्य है, जिसमें एक ओर समता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व का भाव है तो दूसरी ओर वर्ण व्यवस्था से उपजे जातिवाद का विरोध है।

हिन्दी साहित्य में दलित आत्मकथा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रथम दलित आत्मकथा मराठी भाषा में लिखी गई है। बाबासाहब अंबेडकर के 'मी कसा झालो' (मैं कैसे बना) आत्मकथा से प्रेरित होकर दलित साहित्यकारों ने अपने जीवन के भोगे हुए कटु यथार्थ को दलित आत्मकथाओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। ये आत्मकथाएँ हमें यह एहसास कराती हैं कि जिस समाज में हम रहते हैं वह कितना अमानवीय है। प्रमुख हिन्दी दलित आत्मकथाओं में मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' (भाग-1और भाग-2), कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', प्रो. तुलसीराम की 'मुर्दहिया' शरणकुमार लिंबाले की 'अक्करमाशी' और ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' आदि प्रमुख हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि हिन्दी दलित साहित्य के पुरोधा हैं। वाल्मीकि जी का जन्म 30 जून 1950 में उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर स्थित 'बरला' नामक छोटे से गाँव में हुआ था। उनकी प्रकाशित कृतियाँ हैं- 'जूठन' (आत्मा कथा), 'सलाम', 'घुसपैठिए', 'अम्मा एंड अदर स्टोरीज', 'छतरी' (कहानी-संग्रह), 'सदियों का संताप', 'बस्स, बहुत हो चुका', 'अब और नहीं', 'शब्द झूठ नहीं बोलते' (कविता-संग्रह), 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र', 'मुख्यधारा और दलित साहित्य', 'दलित साहित्य : अनुभव', 'संघर्ष और यथार्थ' (आलोचना) आदि। तो वहीं दूसरी ओर शरणकुमार लिंबाले जी मराठी भाषा साहित्य के प्रमुख कथाकार हैं। उनका जन्म 1 जून 1956 में महाराष्ट्र के सोलापुर जिले के 'हेनूर' गाँव में हुआ था। उनकी प्रसिद्धि का मूल आधार साधारण पाठक वर्ग के अन्तर्मन को झकझोर देने वाली आत्मकथा 'अक्करमाशी' है। उनकी अन्य रचनाएँ हैं

'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' (समीक्षा), 'देवता आदमी', 'दलित ब्राह्मण' (कहानी-संग्रह), 'हिन्दू', छुआछूत, 'नरवानर', 'बहुजन' (उपन्यास) आदि। उनका साहित्य दलित जीवन की वेदना की यथार्थता से परिपूर्ण है। उन्होंने अपने साहित्य में दलित जीवन की त्रासदी अर्थात् भारतीय वर्ण व्यवस्था की मार्मिकता को उजागर किया है। दलित साहित्य के दोनों साहित्यकारों ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा के बल पर दलित आंदोलन, दलित साहित्य और दलित विमर्श को एक नया आयाम दिया है। इनकी रचनाओं में धार्मिक रूढ़ियों, ब्राह्मणवाद, सामंतवाद, अंधविश्वास, साम्प्रदायिकता आदि का विरोध पाया जाता है।

'जूठन' की व्यवस्था दलित समाज जीवन के लिए एक ज्वलंत कुप्रथा है। 'अक्करमाशी' और 'जूठन' आत्मकथा में इस समस्या का बखूबी चित्रण किया गया है। किसी भी खाद्य वस्तु का एकबार भोग कर लेने के बाद बचे हुए खाद्य पदार्थ को पुनः ग्रहण करना ही जूठन कहलाता है। यह प्रथा उत्तर भारत के दलित समाज में खास तौर पर प्रचलित है। शादी-ब्याह के अवसर पर बची जूठन पर घर में काम करने वाले दलित मजदूरों का हक होता है। वह खाद्य पदार्थ जो किसी ने खाने के बाद छोड़ दिया हो दलित अगर उस जूठन को न लेकर जाएँ तब उस जूठन का क्या होगा? कहीं न कहीं सूअर, कुत्ते आदि जानवर उसे खाएंगे। अमीरी और गरीबी का अंतर इतना बढ़ गया है कि मानो लोगों की चेतना ही मर गयी हो, जिस कारण वे लोग गरीबों को 'जूठन' देने से भी हिचकिचाते हैं। वर्तमान समय में समाज से मानवीय मूल्यों का दिन-प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है। उपरोक्त दोनों ही आत्मकथाएँ दलितों के भोगे हुए कटु सत्य और दलित जीवन का यथार्थ प्रस्तुत करती हैं।

लिंबाले की 'अक्करमाशी' और ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' आत्मकथाएं दलितों की करुण पीड़ा का दस्तावेज हैं, जो दलित समुदाय की संवेदना को अभिव्यक्त करती हैं। दोनों आत्मकथाओं में ऐसे अनेक प्रसंगों का विवरण मिलता है जो ब्राह्मणवादी पोषकों को जातिवादी चरित्रों, रीति-रिवाजों, परंपराओं तथा प्रथाओं के खिलाफ बगावत की आवाज को बुलंद करते हैं। दोनों आत्मकथाओं में लेखकों ने उनके साथ हुए छुआछूत के क्रूर व्यवहार को प्रस्तुत किया है। छुआछूत न केवल दलित समाज बल्कि भारतीय समाज व्यवस्था का भयानक कोढ़ है। एक आदमी दूसरे आदमी के स्पर्श से कतराता है, उसे ऐसे स्पर्श से धर्म भ्रष्ट होने का डर है। यह सच है कि वर्तमान समय में छुआछूत पहले जैसी कट्टरता से नहीं निभाई जाती, किंतु उसका अस्तित्व समाप्त हो गया है ऐसा नहीं कहा जा सकता। गांवों में भी छुआछूत अब धीरे-धीरे कम हो रही है, लेकिन पूर्ण रूप से मन का मैल मिटता दिखाई नहीं दे रहा है।

'जूठन' आत्मकथा में जूठन जैसी क्रूर प्रथा का वर्णन किया गया है। 'जूठन' मौजूदा जाति व्यवस्था के तहत दलितों के प्रति अभिजात और दलित वर्ग के संघर्ष को दर्शाता है। 'जूठन' आत्मकथा के अनुसार वाल्मीकि जी के परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। दिनभर मेहनत-मजदूरी करने के बाद भी उन्हें विशेष कुछ नहीं मिलता था। मवेशी वाले घर से साल भर में 25 सेर अनाज, दोपहर को प्रत्येक घर में एक बची-खुची रोटी जो खास तौर पर चूहड़ों को देने के लिए आटे में भूसी मिलाकर बनाई जाती थी बस यही। बच्चों को एक-एक कटोरी चावल का पानी पीने के लिए दे दिया जाता था। इस परिस्थिति को प्रमाणित करने के लिए ओमप्रकाश वाल्मीकि का यह कथन उल्लेखयोग्य है–'यह माँड़ हम सबके लिए किसी दूध से कम नहीं था। जब भी चावल बनते थे, सभी खुश हो जाते थे, गरम-गरम माँड़ पीकर शरीर में स्फूर्ति आ जाती थी। फेंक दिया जानेवाला माँड़ हमारे लिए गाय के दूध से ज्यादा मूल्यवान था।[5] दलितों के लिए चावल के ऊपर का पानी जिसमें नमक डालकर पिया जाता था, वह लेखक के लिए स्फूर्तिदायक पेय से किसी मायने में कम न था। वह फेंक देनेवाला पानी एक ओर भूख मिटाने का काम करता था तो दूसरी ओर चित्त को प्रसन्न

करने में भी सहायक था। समाज में दलितों पर होने वाले अत्याचार और अत्याचार के खिलाफ दलितों के विद्रोही स्वरूप को दर्शाने का प्रयास लेखक ने अनेक स्थलों पर किया है। दलित समुदाय के लोग उच्च वर्ण के लोगों के यहाँ आयोजित शादी-विवाह के अवसर पर मेहमान और बारातियों के खाना खा लेने के बाद जूठी पत्तलों को एक टोकरे में भर लेते, फिर उसमें से जूठन निकाल कर स्वंय खाते और अपने परिवार अपनी जकात के सदस्यों के लिए भी लेकर जाते। एक दिन लेखक की माँ चौधरी के घर के बाहर जूठन के लिए खड़ी थी। जूठन लेने के बाद जब अपनी जकात के लिए एक पत्तल खाना मांगती है तब चौधरी सुखदेव सिंह कहता है– 'टोकरा भर तो जूठन ले जा रही है... ऊपर से जाकतों के लिए खाणा माँग री है? अपणी औकात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बनी।[6] चौधरी के कटु व्यवहार से उनको क्रोध आता है। इसके चलते वह जूठन को उनके द्वार पर ही फेंक कर आ जाती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की तरह ही शरणकुमार लिंबाले के परिवार की आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। अपनी आत्मकथा में लिंबाले ने भी कई स्थानों पर जूठन का जिक्र किया है। उनकी दादी गोबर से निकले हुए दाने की रोटी खाने के लिए मजबूर थी। लिंबाले के अनुसार 'आज झगड़कर मैंने एक टुकड़ा ले लिया। मुहँ में रखा......अरे, यह क्या? रोटी में तो गोबर की दुर्गंध थी, इतनी कि मानो मैं गोबर की रोटी ही चबा रहा था।'[7] समाज में शोषण इतना बढ़ गया है कि गरीब दिन पर दिन गरीब होते जा रहे हैं। सभ्य समाज के लिए यह अत्यंत लज्जा का विषय है कि आज भी कोई व्यक्ति इतना लाचार और मजूबर है कि वह गोबर में से बीने हुए अनाज से अपने पेट की आग को शांत कर रहा है। वन भोजन के एक कटु अनुभव को व्यक्त करते हुए शरणकुमार लिंबाले लिखते हैं–'बनिये, ब्राह्मण, मारवाड़ी, मुसलमान, सुनार, ठाकुर, जाट आदि जमात के सौ लड़के, शिक्षक और लड़कियाँ बरगद के विशाल पेड़ के नीचे खाने के लिए बैठ गए गोलाकार में और हम अछूत बच्चे एक अलग पेड़ के नीचे।'[8] विद्यालय या किसी भी शिक्षण संस्थान को धर्म-जात-पात आदि से कोशों दूर रहना चाहिए। जातिगत भेदभाव का जो कटु अनुभव उन्हें स्कूल के दिनों में मिला वह भारतीय शिक्षा प्रणाली की नग्न तस्वीर को उजगार करता है। लिंबाले जी और अन्य दलित बच्चे अपने साथ लाए रोटी चटनी, सूखी मछली, सब्जी आपस में बाँट लिए, परंतु शिक्षक और अन्य बच्चों के मसालेदार पकवानों की ओर इनका ध्यान बार-बार चला ही जाता था। सवर्ण छात्रों के भरपेट खाने के बाद रोटी और सब्जियाँ काफी मात्रा में बच गई थीं। तब शिक्षकों का निर्देश हुआ और बची हुई सारी जूठन अछूत बच्चों को दे दी गई। जूठन में गेहूँ की नमकीन रोटियों, पराठों, लड्डूओं, गुझियों, चपातियों आदि के छोटे-बड़े टुकड़े थे। 'जूठन' मिलने पर 'जूठन' के संदर्भ में लेखक कहते हैं– 'मारुति उस जूठन को लेकर आगे बढ़ने लगा और हम चीलों की तरह उसके पीछे-पीछे चलने लगे।'[9] उस जूठन की सुगंध और स्वाद से मन हर्षित हो रहा था। इसके बाद उस जूठन को सबने पूरे आनंद के साथ खाया। इस प्रकार समाज में एक वर्ग ऐसा भी है जिसका संपूर्ण न सही, पर जीवन का कुछ समय कहीं न कहीं उच्च वर्गो के अच्छे और स्वादिष्ट भोजन के जूठन पर आश्रित रहता है। लिंबाले जी इसी दयनीय स्थिति का शिकार हुए। इस घटना का जिक्र जब लिंबाले जी अपनी माँ के समक्ष करते हैं तो जूठन के संदर्भ में उनकी माँ कहती है, 'घर के लोगों के लिए उसमें से थोड़ा ले आता तो क्या बिगड़ता? बचा हुआ अन्न अमृत होता है।'[10] सभी लोगों के ग्रहण कर लेने के पश्चात बचा हुआ खाना जो कुड़ेदान में फेंक दिया जाता है या कहीं पालतू जानवरों को खाने के लिए दे दिया जाता है वही जूठन दलितों के लिए मानो अमृत है।

निष्कर्ष- ओमप्रकाश वाल्मीकि और शरणकुमार लिंबाले हिंदी दलित साहित्य के आधार स्तम्भ हैं। दोनों ही बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने हिंदी साहित्य में

एक नई अस्मितावादी धारा की नींव रखी। स्वयं दलित होने के कारण उन्होंने छुआछूत, जातिगत भेदभाव, अपमान, अत्याचार आदि का दर्द देखा और सहा था। आलोच्य दोनों आत्मकथाएं व्यक्तिगत अनुभवों से रची-बसी होने के साथ-साथ सामाजिक अनुभवों की संपदा से भरी-पूरी हैं। विद्रोह और आक्रोश के साथ-साथ परिवर्तन और आशा का स्वर दोनों आत्मकथाओं में उभर कर सामने आया है। 'जूठन' और 'अक्करमाशी' दोनों आत्मकथाएँ दलित समाज के कटु यथार्थ को व्यक्त करती हैं। सही मायने में ये दलित जीवन की ज्वलंत दस्तावेज हैं, जो भारतीय समाज की वास्तविकता को उजागर करती हैं। शरणकुमार लिंबाले और ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा के माध्यम से जातिवाद, ब्राह्मणवाद, सामंतवाद, साम्राज्यवाद आदि का विरोध किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने हाशिये पर डाल दिए गए लोगों की आवाज को साहित्य में उकेरा है, तो वहीं शरणकुमार लिंबाले ने दलितों के ऊपर हो रहे शोषण के विरुद्ध आक्रोश एवं विद्रोह को प्रबलता से अभिव्यक्त करने के साथ-साथ भूख की आग में तड़पते अभावग्रस्त दलितों की टीस का चित्रण भी किया है।

आलोच्य दोनों आत्मकथाएँ केवल व्यक्तिगत जीवन की आत्मपीड़ा, संघर्ष और व्यथा-कथा का ज्वलंत दस्तावेज ना होकर संपूर्ण दलित जाति की विडंबनाओं और समस्याओं को महासागर हैं। इन दोनों आत्मकथाओं में अभिव्यक्तदलित जीवन का यथार्थ हमारी चेतना का झकझोर देता है। यह हमें सोचने के लिए विवश करता है कि हम सामाजिक वर्ण व्यवस्था को क्यों नहीं देख पा रहे हैं? भौगोलिक परिवेश, समय, भाषा शैली आदि की भिन्नता के बावजूद दोनों ही आत्मकथाओं में जूठन की परंपरा दिखाई देती है। अतः कहा जा सकता है कि दलितों की जो स्थिति महाराष्ट्र में है वही स्थिति उत्तर प्रदेश सहित देश के कोने-कोने में है। सम्प्रति समय में भी प्रकाशित भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आए दिन दलितों पर हो रहे अन्याय- अत्याचार परिलक्षित होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि दलितों की जीवन-प्रणाली में कुछ खास परिवर्तन नहीं हुआ है। आलोच्य दोनों आत्मकथाएँ भारतीय समाज व्यवस्था की ऐसी घृणित तस्वीर पेश करती हैं जो दलितों को पशुतुल्य जीवन जीने के लिए मजबूर करती है।

संदर्भ

1. वाल्मीकि, ओमप्रकाश-'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र', राधाकृष्ण प्रकाशन- 2023, पृ. 13। **2.** लिंबाले, शरण कुमार (सं.-रमणिका गुप्ता) 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', वाणी प्रकाशन-2016 पृ.42। **3.** कंवल, भारती- 'युद्धरत आम आदमी', अंक 41-42, 1998, पृ. 41। **4.** नैमिशराय, मोहनदास-'मराठी और हिन्दी दलित आत्मकथाएँ', पृ. 19। **5.** वाल्मीकि, ओमप्रकाश- 'जूठन', राधाकृष्ण प्रकाशन, 18वां संस्करण-2023, पृ. 34। **6.** वही, पृ.21। **7.** लिंबाले, शरण कुमार (अनुवाद- सूर्यनारायण रणसुभे) 'अक्करमाशी' वाणी प्रकाशन-2014, पृ.42। **8.** वही, पृ.34। **9.** वही, पृ.35। **10.** वही, पृ.35।

❐❐

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय
होजाई, असम। मो. 9401590314
निदेशक- डॉ. मनोज कुमार स्वामी
एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, होजाई, असम

- *शास्त्र का मुख से उच्चारण-मात्र कुछ नहीं है। उस पर अमल करना लाभप्रद है।*
- *हर अच्छी चीज की तरह शास्त्रों की भी अपनी मर्यादा होती है।*
- *हर विद्यार्थी को विज्ञान की तरह शास्त्रों की शिक्षा भी मिलनी चाहिए।*

अद्वैत वेदान्त की परम्परा में साधनचतुष्टय का अनुशीलन

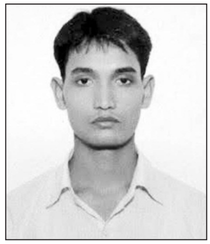

डॉ. राकेश कुमार

प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में आत्मज्ञान अथवा मोक्ष की प्राप्ति ही मानव जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इस परम सूक्ष्म एवं गूढ़ तत्व की प्राप्ति हेतु विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों में विभिन्न प्रकार के नियम व अनुशासन को अनिवार्य माना गया है। अद्वैत वेदांत में आचार्य शंकर द्वारा आत्मज्ञान के इच्छुक साधक जिज्ञासु की सत्यस्वरूप आत्मा में अवस्थित के अधिकारी हेतु साधन चतुष्टय- विवेक, वैराग्य, शम-दम आदि षट्-सम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्व रूपी चार साधनों से संपन्नता को अनिवार्य मानते हैं। इस साधनचतुष्टय के सिद्ध होने पर ही आत्मानुभूति संभव हो पाती है।

साधनचतुष्टय का प्रथम साधन नित्यानित्यवस्तुविवेक को माना गया है अर्थात साधक को नित्य व अनित्य वस्तुओं में भेद की क्षमता का होना आवश्यक है, क्योंकि अनित्य सांसारिक वस्तुओं, सुख व भोग आदि के प्रति वैराग्य का भाव विवेक के माध्यम से ही हो सकता है। विवेक द्वारा यह स्पष्ट होता है कि काल की सीमा में न बंधने वाली वस्तु ही नित्य है और कालावच्छिन्न वस्तुएं अनित्य हैं। संसार की समस्त विषय या वस्तुएं काल की सीमा से आबद्ध है अतः अनित्य है, जबकि ब्रह्म त्रिकालाबाधित होने से नित्य है। इसीलिए आचार्य शंकर 'विवेकचूड़ामणि' में विवेक को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि– *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवं रूपो विनिश्चयः। सोऽहं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः।।*[1] अर्थात जगत जो कि परिवर्तनशील एवं गतिशील होकर समाप्त होने के कारण मिथ्या है जबकि ब्रह्म नित्य, शाश्वत, कूटस्थ एवं अपरिणामी होने के कारण सत्य है, का ज्ञान विवेक द्वारा ही संभव है। यह विवेक ही आत्मतत्व बोध अथवा ब्रह्मविद्यात्मक ज्ञान का पूर्ण साधन है तथा साधनचतुष्टय के अन्य तीन साधनों का निमित्त है।

आत्मज्ञान हेतु दूसरे साधन के रूप में इहामुत्रार्थफलभोगविरागः को स्वीकार किया गया है। इह का अर्थ इस लोक में व अमुत्र का अर्थ परलोक में तथा अर्थफलभोगविरागः का अर्थ काम्यजन्य फल के त्याग से है अर्थात कर्मबंधजन्य ऐहिक एवं परलौकिक सभी प्रकार के सुख भोगेषणाओं के प्रति अंतःकरण से निरासक्ति, तुच्छता एवं निस्सारता का सुनिश्चय भारतीय तत्वचिंतन प्रक्रिया में वैराग्य कहा गया है। इसे ही स्पष्ट करते हुए 'वेदान्तसार' में कहा गया है कि-

ऐहिकानां स्त्रक्चदनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयानित्यत्व वदामुष्मिकाणामप्यमृतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नि तरां विरतिरिहामुत्रार्थ फलभोगविरागः।[2]

अर्थात लोक में जो भी भोग वस्तु व उससे उत्पन्न (तज्जन्य) सुख तथा सुख के साधन भूत भौतिक पदार्थ हैं वे सभी कर्मजन्य हैं और कर्मजन्य होने के कारण अनित्य हैं। भौतिक वस्तुओं के रूप में जो आज दिखाई पड़ रही हैं वे कल नहीं रहेंगी जिससे उनके द्वारा उत्पन्न होने वाला सुख भी नहीं होगा। इसी प्रकार यज्ञ कर्मो से उत्पन्न सुख भी कर्मजन्य होने के कारण

अनित्य है, क्योंकि जब तक यज्ञ कर्म से उत्पन्न अपूर्व है तब तक अपूर्वजन्य सुख रूप स्वर्गादि है, परंतु अपूर्व के समाप्त होते ही उससे उत्पन्न स्वर्गादि का सुख भी नष्ट हो जाता है। इसी कारण लौकिक तथा अलौकिक वस्तुओं द्वारा उत्पन्न सुख अनित्य होने के कारण उन लौकिकालौकिक वस्तुओं से विरक्ति ही वैराग्य नामक ब्रह्म ज्ञान का द्वितीय साधन है।

ब्रह्म ज्ञान हेतु साधनचतुष्टय में तृतीय साधन के रूप में शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान रूप ये षटसंपत्तियां हैं। यहां संपत्ति का अर्थ स्वामित्व या अधिकार से है अर्थात शमदमादि षट्संपत्ति पर पूर्ण अधिकार रखना ही षट्संपत्ति है। शम अपने लक्षण में चित्त कि वह वृत्ति है जो चित्त को जागतिक विषयों से दूर रखती है। चित्त का अपने लक्ष्य आत्मविषयक श्रवणादि से भिन्न अन्य सभी विषयों का निग्रह शम कहलाता है। मनुष्य का मन स्वभावतः अपनी इन्द्रियजन्य लालसा के कारण विषय भोग की तरफ प्रवृत्त होता है। उदाहरण के लिए- भूख अथवा प्यास लगने पर व्यक्ति का मन अन्य विषयों की बजाय भूख और प्यास की निवृति हेतु साधन भोजन एवं जल की तरफ आकृष्ट होता है, परंतु ब्रह्म ज्ञान हेतु मनुष्य के मन का विषयों के प्रति प्रवृत्ति को रोकना अनिवार्य है। आचार्य शंकर ने शम की स्थिति को प्राप्त करने का उपाय सांसारिक विषयों में बार-बार दोष देखने की वृत्ति को बताया है।

विरज्य विषयव्राताद् दोष दृष्ट्या मुहुर्मुहुः।
स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते।।[3]

अर्थात बार-बार हर क्षण दोष दृष्टि के द्वारा दोष देखकर विषयों से तथा विषयों के समूहों से वैराग्य प्राप्ति करके मन को अपने लक्ष्य ब्रह्मतत्वनित्यावस्था में निश्चल रूप से लगाना शम कहलाता है। इस प्रकार शम मानसिक संयम (चित्त का निरोध) है।

आत्मज्ञान हेतु षट्संपत्ति में दूसरी संपत्ति दम है। दम से तात्पर्य इंद्रिय निग्रह है। इसमें मनुष्य कर्मेंद्रिय व ज्ञानेंद्रिय को उनसे संबंधित विषयों से खींचकर अपने आत्मविषयक लक्ष्य पर केंद्रित करता है। वेदान्तसार में दम को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'दमो वाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तन' अर्थात आत्मज्ञान के साधनभूत श्रवण, मननादि से भिन्न चक्षु, श्रोत आदि वाह्य इन्द्रियों को उनके विषय से हटा देना दम कहलाता है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा जाता है कि राग युक्त मन ही वाह्य इंद्रियों को वाह्य विषयों की तरफ खींचता है। अतः वाह्य इंद्रियों का निग्रह होने पर स्वतः ही मन का वाह्य विषयों के प्रति रागात्मक वृत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में वाह्य इंद्रियों का विषयों के प्रति गमन स्वतः ही समाप्त हो जाएगा और फिर चित्त लक्ष्य पर एकाग्र हो जाएगा। भारतीय तत्व चिंतन प्रक्रिया में इन्द्रिय निग्रह की तुलना उस खिड़की से की गई है जिसके बंद होने से दृष्टि का कमरे के बाहर का गमन रुक जाता है। गीता में भी कहा गया है कि 'जिस व्यक्ति ने इन्द्रिय तृप्ति की समस्त इच्छाओं का परित्याग कर दिया है, जो इच्छाओं से रहित रहता है और जिसने सारी ममता त्याग दी है तथा अहंकार से रहित है, वही वास्तविक शान्ति प्राप्त कर सकता है।'[4]

मन और इन्द्रियों के इस पारस्परिक संबंध की प्रक्रिया के वर्णन में दम को साधन तथा शम को उसका साध्य रूप माना गया है, परंतु वेदान्तसार के व्याख्याकार श्री बद्रीनाथ शुक्ला जी मानते हैं कि जब तक मन का शम रूप अवस्था नहीं आ जाती तब तक वह इन्द्रियों को वाह्य विषय की तरफ प्रवृत्त करता रहता है। परंतु यदि इस मत को स्वीकार कर लें कि मन के निरोध से ही इन्द्रियों पर नियंत्रण होता है तो दम की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी। यही नहीं मन के ना चाहने पर भी श्रवणेन्द्रिय कर्कश ध्वनि आदि को सुनती है। इस प्रकार दम के अभाव में मन का निरोध संभव नहीं है।

आत्मज्ञान हेतु षट्संपत्ति में तीसरी संपत्ति उपरति है। उपरति शब्द का अर्थ उपराम या उपेक्षा का भाव होता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनों से भिन्न सांसारिक विषयों रूप, रस आदि से हटाई हुई वाह्य इन्द्रियों को पुनः अपने-अपने विषयों में न जाने पाए इस हेतु यत्न पूर्वक विषयोन्मुख होने से रोकना उपरति है। यह भी एक प्रकार का निरोध ही है। इसके लक्षण को 'विवेकचूड़ामणि' में स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'वाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरूत्तमा'[5] अर्थात वृत्ति का वाह्य विषयों का आलंबन ग्रहण नहीं करना उत्तम उपरति है।

'वेदान्तसार' में सांसारिक विषयों से निवृत्त वाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों का श्रवण आदि से भिन्न विषयों से निरोध शास्त्र विहित कर्मों के विधिपूर्वक त्याग को उपरति कहा गया है अर्थात संध्या वंदन, अग्निहोत्र इत्यादि गृहस्थादिकों के करने के लिए शास्त्रों में निर्धारित किए गए नित्य नैमित्तिक कर्मों का संन्याश्रम स्वीकार करने पर शास्त्रोक्त विधि से परित्याग कर देना उपरति कहलाता है। षट्संपत्तिपरक साधनचतुष्टय की चौथी संपत्ति तितिक्षा है, जिसका सामान्य अर्थ अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव से रहना होता है। मनुष्य के मन व बुद्धि अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों जैसे– लाभ-हानि, मान-अपमान, संयोग-वियोग इत्यादि के प्रसंग में सापेक्षिक प्रतिक्रिया करती है। लाभ, मान व संयोग आदि में सुखी एवं हानि, अपमान एवं वियोग में दुखी, परंतु यह क्रियाएं तो शरीरगत मात्र होने के कारण आत्मा तो इन सब से असंबद्ध रहती है। इस वास्तविक ज्ञान को जानकर सभी प्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में अपने को समभाव में रखना ही तितिक्षा है। आचार्य शंकर ने 'विवेकचूड़ामणि' में इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि–

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम्।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते।।[6]

अर्थात मोक्ष की सिद्धि साधना के काल में आने वाले सभी प्रकार के भौतिक एवं अभौतिक प्रतिकूल बुद्धि के विषय, दुखों एवं कष्टों के बिना प्रतिकार के सहन करना तथा उनके प्रसंग में दुख एवं सुख का त्याग करना ही तितिक्षा है। इसी प्रकार गीता में भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'सुख तथा दुःख का क्षणिक उदय तथा कालक्रम में उनका अन्तर्धान होना सर्दी तथा गर्मी की ऋतुओं के आने-जाने के समान है। वे इन्द्रिय बोध से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उनको सहन करना सीखे।'[7]

षट्संपत्ति में तितिक्षा के उपरांत श्रद्धा संपत्ति का उल्लेख प्राप्त होता है। श्रद्धा से तात्पर्य वेदांत शिक्षा के अद्वैतपरक विचार तथा गुरु उपदेशों व वचनों में पूर्ण आस्था एवं विश्वास तथा उन्हें परमतत्व के यथार्थ स्वरूप का बोध कराने वाला मानना। आत्मतत्व की श्रद्धा को ही उसकी साधना का मेरुदंड कहा गया है। श्रद्धा के नहीं होने पर आत्मतत्व का भली प्रकार से उपदेश दिए जाने पर भी शिष्य द्वारा अर्थ का निर्धारण नहीं हो सकता। इसीलिए आत्म जिज्ञासुओं को श्रद्धा का अवलंबन अनिवार्य माना गया है। उपनिषदों में भी सूत्रों में निहित सूक्ष्म एवं गूढ़ अर्थ के संशय की निवृत्ति के लिए श्रद्धा को मुख्य साधन स्वीकार करते हुए कहा गया है कि– 'समाहित भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पद्धति'[8] अर्थात श्रद्धा से संबंधित व संपन्न होकर ही आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त होना संभव है। इसी प्रकार गीता में भी कहा गया है कि 'जिनकी श्रद्धा गहरी है और जिन्होंने अपने मन तथा अपनी इन्द्रियों को वश में करने का अभ्यास कर लिया है वे दिव्य ज्ञान प्राप्त करते हैं। ऐसे दिव्य ज्ञान के द्वारा ही वे शीघ्र ही शाश्वत परम शांति प्राप्त कर लेते हैं।'[9]

साधनचतुष्टय के अंतर्गत षट्संपत्ति की अंतिम संपत्ति समाधान है। समाधान का तात्पर्य चित्त की ब्रह्म में स्थिर स्थिति से है अर्थात विषयों से प्रत्याहृत चित्त को ब्रह्मविद्या अथवा आत्मतत्वबोध विषयक श्रवण, मनन आदि में निश्चल भाव से स्थिर रखना समाधान है, जो ब्रह्मतत्व की प्राप्ति का प्रमुख साधन है, क्योंकि आत्मतत्व जिज्ञासु के लिए चित्त को ब्रह्म भाव में स्थिर करना नितांत आवश्यक है तभी मोक्ष रूपी लक्ष्य की प्राप्ति हो सकेगी। आत्मज्ञान हेतु साधनचतुष्टय में चतुर्थ साधन मुमुक्षुत्व है। मुमुक्षत्व शब्द से तात्पर्य मोक्ष की इच्छा से है। वेदांत के परमतत्व को प्राप्त करने का प्रधान साधन माना जाता है क्योंकि मोक्ष प्राप्ति की इच्छा के अभाव में पुरुष द्वारा आत्मदर्शन, मोक्ष का मार्ग, वेदांत तत्व का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन और आत्मदर्शन में कारणादि को नहीं जाना जा सकता। इसीलिए आत्मजिज्ञासु को मोक्ष की इच्छा अवश्य होनी चाहिए। इसकी नितांत अनिवार्यता को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि–

अहंकारादिदेहान्तान्बन्धानज्ञानकल्पितान्।
स्वस्वरुपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता।।[10]

अर्थात मुमुक्षुत्व के होने से माया जनित बंधन रूपी जगत का ज्ञान के माध्यम से मिथ्या रूप स्पष्ट करके ब्रह्म स्वरूप में स्थित होने का ज्ञान होता है। जिससे साधनचतुष्टय के अन्य साधनों की भी एक साथ सिद्ध हो जाती है; परिणामस्वरुप साधक के हृदय की

सभी कामनाएं नष्ट हो जाती हैं और वह आत्मज्ञान अथवा जीव व ब्रह्म की अभिन्नता का दिव्य ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

साधनचतुष्टय से संपन्न होने पर साधक विवेकयुक्त, शांत चित्त, जितेंद्रिय, दोषरहित एवं धर्मानुकूल कर्ता जैसे इत्यादि गुणों से युक्त आत्मज्ञान का अधिकारी होकर आत्मज्ञान प्राप्त करने व आत्मसात करने के उद्देश्य से श्रद्धा सहित किसी आप्तपुरुष अथवा गुरु के सान्निध्य व कृपा छाया में रहकर श्रुति वचनानुसार शांतदान्त होकर स्व-स्वरूप का बोध प्राप्त करता है। आत्मज्ञान हेतु अद्वैतवेदांत में एकमात्र साक्षात साधन ज्ञान को माना गया है तथा कर्म व उपासना को चित्त शुद्धि हेतु सहायक साधन के रूप में स्वीकारा गया है। आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष का साधन कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्ष नित्य आत्मा का स्वरूप होने से व किसी क्रिया का कार्य नहीं होने से कर्मसाध्य नहीं है। नित्य, नैमित्तिक कर्म व उपासना आदि चित्त शुद्धि के साधन हैं जबकि साधनचतुष्टय संपन्नतापूर्वक श्रवण, मनन, निदिध्यासन व समाधि ज्ञान के चार अनिवार्य साधन हैं। उल्लेखनीय है कि ज्ञानोपलब्धि के चारों में से प्रथम तीन को बृहदारण्यकोपनिषद् में स्वीकार किया गया है जहां पर कहा गया है कि–'आत्मावाऽरे दृष्टव्यः श्रोतव्यः निदिध्यासनः'[11] अर्थात आत्मा के स्वरूप दर्शन के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। जबकि समाधि साधन का उल्लेख श्वेताश्वेतरोपनिषद में प्राप्त होता है।

आत्मज्ञानोपलब्धि का प्रथम साधन श्रवण है। श्रवण शब्द का अर्थ सुनना है। यहाँ सुनने से तात्पर्य आत्मजिज्ञासु को सर्वप्रथम संपूर्ण वाह्यविषयादि सांसारिक भोगों की इच्छा त्यागकर किसी ब्रह्म ज्ञानी संत शिरोमणि गुरु के आत्म वचनों को पूरी श्रद्धा एवं खुले मन से सुनने से है। द्वितीय साधन मनन है जिसका अर्थ चिंतन होता है। इस अवस्था में श्रवण द्वारा प्राप्त शिक्षा पर गहराई से चिंतन करने और शंकाओं को दूर व अवधारणाओं को स्पष्ट कर शिक्षाओं को आत्मसात करने के बाद तर्कसंगत विचार के माध्यम से अपना बनाने की प्रक्रिया है। तृतीय साधन निदिध्यासन का है जिसका तात्पर्य एकाग्र चिंतन है। इस अवस्था में श्रवण से प्राप्त ज्ञान और मनन के माध्यम से स्पष्ट ज्ञान पर गहन अध्ययन किया जाता है अर्थात यह आत्मस्वरूप के श्रवण और मनन द्वारा निश्चित एवं संशयरहित अविच्छन्न रूप से प्रवहमान वृत्ति की अवस्था है। उल्लेखनीय है कि निदिध्यासन की अवस्था में चित्त का आत्मा में स्थिर आत्मकर वृत्ति प्रयत्नसाध्य रहती है जबकि साक्षात्कार की अवस्था में यह वृत्ति वैसे ही स्वाभाविक हो जाती है। अंतिम साधन समाधि है जो निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था होने के कारण उसी में इसका अंतर्भाव हो जाता है जिससे इसे कुछ लोग पृथक साधन रूप में स्वीकार नहीं करते। इस अवस्था में साधक चित्त की स्वाभाविक निश्चल स्थिति को प्राप्त कर लेता है जो आत्मज्ञान या मुक्ति की अवस्था है।

निष्कर्ष : उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि साधनचतुष्टय व्यक्ति को जीवन के उद्देश्यों को समझने और उसे प्राप्त करने में मदद करता है तथा उसे आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए भी तैयार करता है। इसके सम्यक पालन करने से व्यक्ति आत्म साक्षात्कार या मोक्ष को प्राप्त होता है। उल्लेखनीय है कि यह न केवल आध्यात्मिक विकास बल्कि सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भी उपयोगी है। इसके माध्यम से व्यक्ति सही और गलत के बीच निर्णय लेने में समर्थ होता है तथा शमदमादि षट्संपत्तियों के अभ्यास से तनाव को प्रबंध कर सकता है और मानसिक शांति प्राप्त कर सकता है। साथ ही इसके द्वारा व्यक्ति अपने संबंधों में सुधार कर सकता है और दूसरों के साथ बेहतर ढंग से जुड़ सकता है। साधनचतुष्टय के अभ्यास से व्यक्ति सामाजिक जिम्मेदारी की भावना विकसित कर सकता है और समाज के लिए सकारात्मक योगदान कर सकता है।

सन्दर्भ :

1. विवेकचूड़ामणि श्लोक 20। **2.** वेदान्तसार खण्ड 8। **3.** विवेकचूड़ामणि श्लोक 22। **4.** गीता 2/71। **5.** विवेकचूड़ामणि श्लोक 24। **6.** वही 25। **7.** गीता 2/14। **8.** बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/23। **9.** गीता 4/39। **10.** विवेकचूड़ामणि श्लोक 28। **11.** बृहदारण्यकोपनिषद् 4/5/6।

❑❑

दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, Email- rk1600161@gmail.com
Mo. 7905281049

परंपरागत भारतीय परिवार का बदलता स्वरूप और वृद्ध

डॉ. कविता वर्मा

भारतीय परिवार की पारंपरिक संयुक्त संरचना सदियों से वृद्धावस्था के लिए एक सामाजिक सुरक्षा तंत्र के रूप में कार्य करती रही है। किंतु शहरीकरण, औद्योगिकीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने पारिवारिक संरचना में गहरा परिवर्तन किया है। नाभिकीय परिवारों का प्रसार, पीढ़ीगत अंतर और प्रवसन की प्रवृत्ति ने वृद्धजनों के जीवन में नए संकट खड़े कर दिए हैं। यह शोध पत्र भारतीय परिवार के बदलते स्वरूप का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है और यह दर्शाता है कि किस प्रकार वृद्धावस्था देखभाल एक गंभीर चुनौती बनकर उभर रही है। अध्ययन में द्वितीयक आंकड़ों के साथ-साथ चयनित अध्ययनों की समीक्षा की गई है। निष्कर्षतः यह स्पष्ट होता है कि परंपरागत परिवार व्यवस्था का क्षरण न केवल वृद्धजनों की आर्थिक व सामाजिक सुरक्षा को प्रभावित कर रहा है, बल्कि मानसिक स्वास्थ्य व गरिमामय जीवन के अधिकार को भी चुनौती दे रहा है। अंततः यह शोध पत्र नीतिगत हस्तक्षेपों, सामुदायिक पहल और परिवार आधारित उत्तरदायित्व को सुदृढ़ करने की आवश्यकता पर बल देता है।

परिवार एक ऐसा शब्द है जो व्यक्तियों की भावनाओं से जुड़ा होता है यह देश, काल व समय से परे है, क्योंकि शिशु अपने जन्म के साथ ही जिस प्रथम व नैसर्गिक समूह की सदस्यता पाता है वह परिवार ही है। विभिन्न समाज, संस्कृति, देश व काल आदि में परिवार में अंतर दृष्टिगोचर होता है, किंतु मनुष्य को जीवनपर्यंत संरक्षण देने वाली संस्था के रूप में यह सार्वभौमिक है। रॉबर्ट वीरस्टीड के अनुसार, 'परिवार बच्चों के प्रजनन व पालन पोषण की मानकीकृत, औपचारिक और नियामबद्ध कार्यप्रणाली है।[1] भारतीय परिवेश में परिवार एक निरंतर अंतक्रिया की प्रणाली है जिसमें सभी नातेदार एक दूसरे से रक्त व विवाह संबंधों से बंधे हुए अपने उत्तरदायित्वो को पूर्ण करते हैं। आई. पी. देसाई के अनुसार मूल रूप से परिवार एक दूसरे से अंतक्रिया करते स्वजनों का समूह है। आई. पी. देसाई ने परंपरागत भारतीय संयुक्त परिवारों की बारे में कहा है की 'इसमें एकाकी परिवार की अपेक्षा अधिक पीढ़ियों, तीन या उससे अधिक, के सदस्य सम्मिलित होते हैं और जो एक दूसरे से संपत्ति, आय और परस्पर अधिकारों तथा कर्तव्यों द्वारा बंधे होते हैं।[2] भारतीय सामाजिक संरचना के तीन स्तंभ हैं-ग्राम, जाति व संयुक्त परिवार जिससे भारतीय समाज की निरंतरता बनी हुई है और यह हमारे सामाजिक जीवन व व्यवहार को भी नियंत्रित करती है।

विश्व बंधुत्व की भावना से परिपूर्ण हमारी संस्कृति को पोषण करने में हमारे संयुक्त परिवार का अद्वितीय योगदान है। वैदिक संस्कृति का पोषक हमारा देश विश्व पटल पर अंकित सभी देशों व राष्ट्रों में सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने में अग्रणी व पथ प्रदर्शक रहा है। दुर्घटना, बेरोजगारी, मृत्यु, शारीरिक अक्षमता, वृद्धावस्था व आकस्मिक संकट के समय परिवार संस्था

सदैव अपने सदस्यों को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करती है। राज्य कितनी भी कल्याणकारी योजनाएं लोकतंत्र व नागरिक मानव अधिकार के आलोक में प्रदर्शित कर ले, लेकिन सामाजिक सुरक्षा की जो बुनियादी अवधारणा का मूल है वह परिवार में ही अवस्थित है। इस परिवार में मुखिया की मुख्य भूमिका का होती है, जो की पितृसत्तात्मक व्यवस्था में सबसे उम्र दराज व्यक्ति होता है, जो की अनुभवी व सम्माननीय होने के साथ अपने समुदाय व नातेदारी का प्रतिनिधित्व भी करता है। ऐसी समाजिक संरचना में गृह के बुजुर्ग व उम्रदराज व्यक्ति न केवल अपने परिवार वरन समुदाय में भी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और परिवार के सभी युवा सदस्य उनकी सुख सुविधाओं, स्वास्थ्य व आवश्यकताओं का पूर्ण ध्यान रखते हैं। परंपरागत रूप से संयुक्त परिवार ने न केवल आर्थिक उत्पादन व वितरण की भूमिका निभाई, बल्कि बच्चों, महिलाओं और वृद्धजनों के लिए भी एक सुरक्षा कवच का कार्य किया। किंतु पिछले कुछ दशकों में सामाजिक परिवर्तन की तीव्र गति ने इस व्यवस्था को गहराई से प्रभावित किया है।

औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, शिक्षा और प्रवसन ने परिवार के ढाँचे को संयुक्त से नाभिकीय की ओर मोड़ दिया है। फलस्वरूप, वृद्धजनों की देखभाल की परंपरागत जिम्मेदारी अब संकटग्रस्त हो रही है। जहां पहले बहु-पीढ़ीय सहजीवन से वृद्धजनों को सम्मान और सहयोग मिलता था, वहीं आज वे प्रायः अकेलेपन, आर्थिक असुरक्षा और मानसिक तनाव से जूझ रहे हैं। परिवर्तन प्राकृतिक नियम हैं जिसके फलस्वरूप व्यवस्था व संरचना में बदलाव होना स्वाभाविक है। बढ़ती जनसंख्या, औद्योगीकरण, नगरीकरण, औपचारिक व तकनीकि शिक्षा का पसरता स्वरूप, जातिगत कार्यो में बदलाव, रोजगार के बढ़ते नित्य नए अवसर, यातायात के साधनों की बाढ़, नाभिकीय परिवार का बढ़ता चलन व संतान केंद्रित परिवार आदि के कारण परिवार के बुजुर्ग व वृद्ध इस तेजी से बदलते परिवेश में पीछे छूटते जा रहे हैं तथा वर्तमान में इन सभी कारणों से उनकी देखभाल व दैनिक जीवन की आधारभूत आवश्यकता की पूर्ति अब समस्या व चुनौती का रूप लेती जा रही है। साथ ही संतानों की बढ़ती महत्वकांक्षा, सेवा, परोपकार व सामजिक मूल्यों में कमी आने से बुजुर्गो के साथ दुर्व्यवहार की घटनाएं बढ़ती जा रही है। देश में बढ़ते हुए वृद्धाश्रम विकास को प्रदर्शित न करके गिरते पारिवारिक व सामाजिक मूल्यों के घोतक है।

प्रस्तुत शोध पत्र में यह खोजने का प्रयास किया गया है कि वृद्धों की वर्तमान स्थिति क्या है, परंपरागत भारतीय परिवार में परिवर्तन कौन से व कैसे हो रहे हैं जो वृद्धों को समस्याओं व चुनौतीपूर्ण जीवन के कारण बन रहे हैं तथा इन्हें राज्य व परिवार द्वारा कैसे दूर किया जा सकता है ताकि जीवन की संध्या काल में बुजुर्ग अपना गरिमामयी जीवन जी सके। प्रस्तुत शोध पत्र में आंकड़ों के संकलन के लिए अवलोकन प्रणाली का प्रयोग किया गया तथा आंकड़ों को आवश्यकता अनुसार विभिन्न समाचार पत्र, पत्रिकाओं, राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय रिपोर्ट, इंटरनेट पर उपलब्ध संबंधित साहित्य तथा विविध पुस्तक आदि से एकत्र कर उनका तर्क संगत विश्लेषण अध्ययन के उद्देश्य को ध्यान में रखकर दिया गया। शोध का प्रकार वर्णनात्मक व् विश्लेषणात्मक है और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार और वृद्धावस्था संबंध का अध्ययन करता है।

वृद्ध कौन है- आयु बढ़ने को अलग-अलग लोगों ने भिन्न नजरिये से देखा है। राजनेताओं और उद्योगपतियों के लिए इसका अर्थ शक्ति व धन है, जबकि कर्मचारियों के लिए यह सेवानिवृत्ति है। सामान्य लोगों में आयु बढ़ने का अर्थ शारीरिक और मनोसामाजिक परिवर्तन है, जो सामान्य शारीरिक कमजोरी व मानसिक गतिविधियों में कमी और सामाजिक गतिविधियों और रुचियों में कमी के रूप में दिखाई देते हैं।[3] भारत की जनगणना में 60 वर्ष आयु की सीमा वृद्धावस्था के लिए निर्धारित की गई है तथा विश्व परिदृश्य में भी 15 से 49 वर्ष की जनसंख्या को कार्यकारी व युवा तथा 60 और उससे अधिक आयु के व्यक्तियों को निर्भर व वृद्ध की जनसंख्या में रखा गया है।

वृद्धों की वर्तमान स्थिति– वर्तमान में 2025 में करीब 11.1 करोड़ जनसंख्या 60 वर्ष से अधिक आयु के लोगों की है। वहीं सन 2000 में यह 6.8 करोड़ थी

तथा अनुमान है कि 2025 तक यह संख्या 20.6 करोड़ हो जाएगी।[4] आने वाले समय में दुनिया की आबादी औसतन बूढ़ी होती जाएगी। दुनिया की मध्यम आयु 1950 में 22 साल थी जो अब 31 साल है और 2100 तक यह बढ़कर 42 साल हो जाएगी। 2100 तक 65 वर्ष आयु और उससे ज्यादा उम्र के लोगों की संख्या बढ़कर करीब 2.4 अरब होगी। आज यह संख्या 87.7 करोड़ है अर्थात बुजुर्गो की आवादी दुगनी से ज्यादा होगी। इसके साथ ही दुनिया की कुल आबादी में इन बुजुर्गो का हिस्सा 10 प्रतिशत से बढ़कर 24 प्रतिशत हो जाएगा।[5]

विभिन्न रिपोर्ट व पत्र पत्रिकाओं में बुजुर्गो से दुर्व्यवहार व समस्याओं से संबंधित लेख व समाचार प्राप्त होते हैं जो दर्शाते हैं कि उन्हें अपने ही परिवार में जीवन यापन करना चुनौतीपूर्ण हो गया। हेल्प इज़ इंडिया की वार्षिक रिपोर्ट 2023-24 के अनुसार पुत्र के द्वारा अपनी माँ को इतनी यातनाएं दी गईं कि उसे गंभीर शारीरिक व मानसिक समस्याएं हो गई तथा धोखे से संपत्ति अपने नाम भी करवाली।[6] इसी प्रकार दिल्ली के एक बुजुर्ग की उसकी बहू व बेटे द्वारा की गई चप्पल से पिटाई से आहत बुजुर्ग ने पांचवीं मंजिल से कूदकर आत्महत्या कर ली[7] तथा बनारस में एक बुजुर्ग को उसके बच्चों ने घर से निकाल दिया जिसके पास करोड़ों की संपत्ति थी, और अपने अंतिम दिन उस बुजुर्ग को कुष्ठ आश्रम में बताने पड़े। मृत्यु की सूचना देने के बाद भी बच्चे अंतिम संस्कार के समय नहीं आए।[8]

इस प्रकार विभिन्न रिपोर्ट्स व समाचार पत्रों में बिखरी खबरें अपने ही परिवार में उम्रदराज व्यक्ति की वर्तमान दशा, समस्याएं व चुनौतियां प्रदर्शित करते हैं जिसका कारण परंपरागत पारिवारिक संरचना तथा प्रकार्यो में परिवर्तन है। यह परिवर्तन निम्न प्रकार वृद्धों के जीवन में चुनौती व समस्या के रूप में देखे जा सकते है–

1. आई.पी. देसाई के अनुसार परिवारों की सयुक्ता घट रही है तथा उनमें एकाकिता बढ़ रही है। आवासीय व संगठनात्मक प्रकार के परिवारों में पति-पत्नी व बच्चों के समूह की प्रधानता होती है। संयुक्तता के घेरे में नातेदारी संबंधों की परिधि छोटी होती जा रही है, जिससे बुजुर्गो की उपेक्षा होती है। नवदंपति अपने कार्यस्थल के अनुरूप अपने आवास का निर्धारण करते हैं और अपने पैतृक स्थान को अपनी आजीविका के कारण छोड़ देते हैं।[9] कुछ संताने दूसरे देशों में पलायन कर जाती हैं और अतिथि स्वरूप अपने पैतृक स्थान व माता पिता से मिलने आते हैं। समय बीतने के साथ उनको मिलने व बात करने की पुनरावृत्ति हुई कम होती जाती है।

2. बढ़ता औद्योगीकरण व उदारीकरण ने लाखों लोगों को उद्योग और सेवा क्षेत्रो में रोजगार के अवसरों के लिए शहरी क्षेत्रों में जाने के लिए मजबूर किया। मिल्टन सिंगर ने भी अपने अध्ययन में परिवार की संरचना में परिवर्तन में चार कारकों को जिम्मेदार माना आवासीय गतिशीलता, व्यावसायिक गतिशीलता, वैज्ञानिक व तकनीकी शिक्षा व द्रव्यीकरण।[10] जिसके कारण संताने अपना पैतृक आवास छोड़ दूसरे शहरों व देशों में कार्य करने व आजीविका कमाने के लिए चले जाते हैं तथा पीछे रह जाते हैं घर के बुजुर्ग, जो स्वयं को अकेला पाते हैं तथा जो अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति और देखभाल स्वम ठीक से नहीं कर पाते है।

3. महिला सशक्तिकरण पारिवारिक संरचना में परिवर्तन के एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में उभर रहा है। महिलाओं की शिक्षा, कार्यालयों में बढ़ती महिला भागीदारी व आर्थिक स्वतंत्रता ने परंपरागत पारिवारिक व्यवस्था में परिवर्तन लाया है। राम आहूजा के अनुसार जैसे-जैसे शिक्षा का स्तर उठता है वैसे-वैसे एकांकी परिवार के पक्ष में प्रतिशत बढ़ता है और सयुक्त परिवार में जीवन व्यतीत करने के पक्षधर लोगों का प्रतिशत कम होता जाता है।[11] ऐसी स्थिति में भी घर के बुजुर्गो की देखभाल ठीक से नहीं हो पाती और जीवन काल की इस संध्या में एकांकीपन व उपेक्षित होने की चुनौती बढ़ जाती है। कार्यरत महिलाओं के कारण वृद्धजनों की देखभाल का पारंपरिक मॉडल कमजोर हुआ है।

4. रोजगार की खोज में युवा पीढ़ी शहरों में आकर बस रही है तथा वहाँ आवासों की कमी व रोजगार की गतिशीलता की मांग ने पारिवारिक संरचनाओं को

परिवर्तित किया है। शहरीकरण के परिणामस्वरूप विस्थापन व पुनर्वास होता है जो कि परिवार की संरचनाओं को प्रभावित करता है, जिससे व्यक्ति को अपने पैतृक स्थान से अलग रहना पड़ता है। एम.एन. श्रीनिवास (1969) ने 'सांस्कृतिक बदलाव' और 'संस्कृतिकरण' की प्रक्रिया में परिवार के बदलते स्वरूप को रेखांकित किया। उनके अनुसार, सामाजिक गतिशीलता और शहरीकरण ने पारिवारिक संरचना को पुनर्परिभाषित किया।[12]

5. डिजिटल, तकनीक व संचार नवाचारों ने पारिवारिक संरचना के तौर तरीकों और रिश्तों को मौलिक रूप से बदल दिया है। संचार की तकनीक भौतिक रूप से दूरी होते हुए ही व्यक्ति को अपने परिवार से जोड़ कर रख दी है, जिससे व्यक्ति रोजगार की तलाश में दूरस्थ स्थानों पर जा सकते हैं। इस तकनीक से सामाजिक संबंधों में तृतीय संबंधो (जिसमें व्यवहार के लिए किसी माध्यम जैसे टेलीफोन, मोबाइल व इंटरनेट का प्रयोग बहुत किया है) का प्रयोग बढ़ता जा रहा है, जो पारिवारिक संरचना में परिवर्तन का कारण होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव यह होता है कि माता-पिता की संतानों से बहुत अधिक दूरी बढ़ जाती है और ऐसी स्थिति में बुजुर्गो को अपने दैनिक कार्यो से लेकर स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि आवश्यक कार्यो के लिए चिंतित होना पड़ता है।

6. परंपरागत परिवारों में सभी की देखभाल की जिम्मेदारी सभी सदस्यों के बीच विभाजित होती थी, जिसे एक संगठित देखभाल प्रणाली निर्मित होती थी। किंतु सयुक्तता के विघटन ने इन व्यस्थाओं को क्षीण कर वृद्धों की देखभाल प्रदान करने वाली प्रणाली को बहुत अधिक प्रभावित किया है, जिसके लिए एकल परिवारों की बढ़ती प्रवृत्ति व संतानों की दूरी जिम्मेदार है। परिवार के बदलते स्वरूप बुजुर्गो के स्वास्थ्य व कल्याण के लिए भी चुनौती बनकर उभर रहा है। हमारे समाज में परंपरागत रूप से वृद्धों की आवश्यकताओं का ध्यान परिवार के युवाओं का कर्तव्य है लेकिन वर्तमान आधुनिक परिवारों में जहाँ पुत्र व पुत्रवधू दोनों आजीविका यापन के लिए बाहर जाते हैं और बच्चे अपनी शिक्षा में व्यस्त रहते हैं तो परिवार के बुजुर्ग उपेक्षित हुआ अकेलापन महसूस करते हैं।

7. शारीरिक अक्षमताओं व रुग्णता के साथ बुजुर्गो का अपनी संतानों से दूर होने पर अकेलापन, अवसाद व चिंता बढ़ा रही हैं। विश्व के किसी भी देश में वरिष्ठजनों की सबसे बड़ी समस्या एकाकीपन है। वृद्धावस्था की स्थिति में परिवार के संबल और अवलंबन की आवश्यकता बढ़ जाती है। जब यह अवलंबन नहीं मिलता तथा परिवार के सदस्य वरिष्ठजनों की छोटी छोटी बातों की अपेक्षा करने लगते हैं तो स्थिति अत्यंत गंभीर हो जाती है। तिरस्कार, उपेक्षा व अपमान की वजह से वरिष्ठजनों की यह अवस्था एक बिमारी जैसी लगने लगती है। ऐसी स्थिति में उनका स्वास्थ्य तथा मानसिक संतुलन प्रभावित होता है और वे तनाव, कुंठा और अवसाद की समस्या से ग्रस्त होने लगते हैं।[12]

8. आर्थिक सुरक्षा की चुनौती बुजुर्गो की समस्याओं और अधिक उभार रही हैं। संयुक्त परिवार अनंत सामाजिक बीमा व सुरक्षा का साधन रहा है, किंतु धन व संसाधनों की कमी भी सयुक्त परिवारों के विघटन से होने लगती है जिसमें बुजुर्गो को अपने सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने की अभिलाषा क्षीण होने लगती है।

उपयुक्त समस्याओं के अध्ययन और विश्लेषण से इस स्पष्ट है कि हमें यह सत्य स्वीकार करना होगा की पारिवारिक ढाँचे स्वयं में स्वतः पुनरुत्थान कर लेने में सक्षम नहीं रह गए हैं। एक विरोधाभास यह भी है कि आर्थिक विकास और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लाभ वृद्धजनों के जोखिम को बढ़ा रहे हैं। इसलिए समाधान बहु-स्तरीय होना चाहिए। परिवार सुदृढ़ीकरण पर बल देने के साथ-साथ राज्य द्वारा विश्वसनीय सामाजिक सुरक्षा, स्वास्थ्य-इन्फ्रास्ट्रक्चर और समुदाय-आधारित केयर मॉडल का समन्वय अत्यावश्यक है। वर्तमान में सरकारी व नीतिगत स्तर पर वृद्धों के कल्याण के लिए निम्न कार्यक्रम व योजनाये चल रही है–

वृद्धों के कल्याण के लिए 1999 में राष्ट्रीय वृद्धजन नीति की घोषणा की गई। इस नीति का उद्देश्य है कि भारत के वृद्धजनों को सुरक्षा, देखभाल और

सम्मानजनक जीवन मिले। इसमें वृद्धजनों को स्वास्थ्य, आवास, कल्याण और सामाजिक सुरक्षा जैसी बुनियादी सुविधाएँ देने पर ज़ोर दिया गया। साथ ही वृद्धजनों की भागीदारी को प्रोत्साहित किया गया ताकि वे समाज में सक्रिय रह सकें। 60 वर्ष और उससे अधिक आयु के व्यक्तियों को वृद्धजन की श्रेणी में रखा गया। नीति में कहा गया कि सरकार, स्वयंसेवी संस्थाएँ और परिवार मिलकर वृद्धजनों की देखभाल सुनिश्चित करें। पेंशन योजनाओं, वृद्धाश्रमों और सामुदायिक समर्थन तंत्र को विकसित करने की सिफारिश की गई। लेकिन यह अभी तक अपडेट नहीं हुई है, जबकि सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य बदल चुका है।

माता-पिता एवं वरिष्ठ नागरिक भरण-पोषण एवं कल्याण अधिनियम, 2007– यह कानून वरिष्ठ नागरिकों और माता-पिता की भरण-पोषण, देखभाल और गरिमा सुनिश्चित करने के लिए बनाया गया है। संतान (सगे/दत्तक) और कानूनी उत्तराधिकारी अपने माता-पिता या वरिष्ठ नागरिकों का भरण-पोषण करने के लिए बाध्य हैं। यदि संतान या उत्तराधिकारी देखभाल नहीं करता, तो वरिष्ठ नागरिक ट्रिब्यूनल में शिकायत कर सकते हैं। ट्रिब्यूनल संतान को भरण-पोषण भत्ता (रु.10,000 तक प्रतिमाह) देने का आदेश दे सकता है। वृद्धाश्रम की स्थापना और प्रबंधन की भी इसमें व्यवस्था की गई है। यह कानून वरिष्ठ नागरिकों की संपत्ति और अधिकारों की सुरक्षा पर भी ज़ोर दिया गया है। यह अधिनियम वृद्धजन को कानूनी सहारा देता है ताकि वे अपने बच्चों या परिवार से आर्थिक व सामाजिक सुरक्षा प्राप्त कर सके।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना 2007 से चल रही है, जिसमें केंद्र सरकार व राज्य सरकार क्रमशः रु. 200 व रु. 200 निराश्रित व गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले बुजुर्गो को प्रदान करती है तथा जो 80 साल से अधिक आयु के बुजुर्ग है उसमे केंद्र सरकार का अंशदान 500 रुपये हो जाता है। किन्तु इसका भी अपर्याप्त और सीमित कवरेज है। इसके अतिरिक्त विभिन्न मंत्रालय जैसे ग्रामीण विकास मंत्रालय, स्वास्थ्य व परिवार कल्याण मंत्रालय, वित्त मंत्रालय, रेल मंत्रालय, नागर विमानन मंत्रालय व गृह मंत्रालय भी योजनागत सुविधाएं प्रदान कर रहे हैं। किंतु इस समस्या के समाधान के लिए समग्र दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

परिवार सुदृढ़ीकरण कार्यक्रम के अंतर्गत अंतर-पीढ़ी संवाद को बढ़ावा देने वाले अभियान सामुदायिक स्तर पर होने चाहिए और जो करदाता अपने बुजुर्गो की देखभाल करता हो उसे कर में कुछ छूट देने का प्रावधान होना चाहिये। सामुदायिक देखभाल मॉडल में ग़्क्र और स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से सामुदायिक देखभाल तंत्र विकसित किया जाना चाहिय और वृद्धजन क्लब, डे-केयर सेंटर और हेल्पलाइन सेवाओं का विस्तार किया जाना चाहिए। मीडिया और शिक्षा के माध्यम से वृद्धजनों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करना भी आवश्यक है ताकि युवा पीढ़ी अपने बुजुर्गो के लिए संवेदनशील बने। हर जिला अस्पताल में वृद्धावस्था स्वास्थ्य इकाई (जेरियाट्रिक यूनिट) की स्थापना की जानी चाहिए ताकि उन्हें त्वरिक स्वास्थ्य सेवाए मिल सके व वृद्धों के लिए आवश्यक दवाओं पर सब्सिडी या निःशुल्क वितरण किया जाना चाहिए और अवसाद, अकेलेपन और डिमेंशिया जैसी समस्याओं के लिए विशेष काउंसलिंग की व्यवस्था इन वार्ड में होनी चाहिए। इनके साथ ही तकनीकी पहल की भी आवश्यकता है जिसमे डिजिटल साक्षरता प्रशिक्षण कार्यक्रम शामिल होने चाहिए ताकि वृद्ध ऑनलाइन बैंकिंग, हेल्थ कंसल्टेशन और सरकारी सेवाएँ ले सकें। टेली-मेडिसिन के माध्यम से घर बैठे स्वास्थ्य परामर्श की सुविधा देनी चाहिए। सरकारी एजेंसी के मध्यमा से सुरक्षा ऐप्स की शुरु वात होनी चाहिए ताकि वृद्धों को सुरक्षा मिले और आपात स्थिति में तुरंत मदद मिल सके।

निष्कर्ष- हेल्पेज इंडिया के महानिदेशक मेजर जनरल सेवानिवृत्त एसएस संधू (2001) ने कहा कि 'आज बुजुर्गो का सबसे बड़ा डर मृत्यु नहीं बल्कि जीवनयापन का है.....यदि इस ओर ध्यान नहीं दिया गया तो बहुत कम बुजुर्ग इस बात पर गर्व कर पाएंगे कि वे लंबे समय तक जीवित रहे'। वृद्धजन केवल 'निर्भर' वर्ग नहीं हैं; वे अनुभव, परंपरा और ज्ञान के भंडार हैं। यदि राज्य, समाज और परिवार मिलकर

जिम्मेदारी निभाएँ तो उनकी जिंदगी सम्मानजनक और संतोषपूर्ण हो सकती है। परिवार की बदलती भूमिका के कारण वृद्धावस्था अब केवल निजी नहीं बल्कि सामाजिक और नीतिगत चुनौती बन गई है। यदि भारत को अपनी वृद्ध होती जनसंख्या के लिए गरिमापूर्ण जीवन सुनिश्चित करना है, तो पारिवारिक सहयोग के साथ-साथ सामुदायिक और सरकारी हस्तक्षेप भी आवश्यक है। यदि समय रहते ठोस कदम नहीं उठाए गए, तो आने वाले दशकों में यह समस्या और गंभीर रूप ले सकती है।

संदर्भ

1. Bierstedt R., The Social Order: An Introduction to Sociology, McGraw-Hill Book Company, Inc., New York, 1957, pg-347. **2.** Desai,I.P., The Joint family in India: An Analysis, Sociological Bulleten,Vol.5,No.2,Sep.1956, Pg-144-156. **3.** Sharma, M.L. and Dak, T.M. Ageing in India- Challenges for the Society. Ajanta Publicaion, New Delhi. 1987. **4.** 25 वर्षो में बुजुर्गो की आबादी बढ़ी, हिंदुस्तान, नई दिल्ली, 2 जनवरी 2025, पेज 13. **5.** बुजुर्गों की संख्या में इजाफा हो जाएगा, हिंदुस्तान, नई दिल्ली, 11 जुलाई 2025, पेज 16. **6.** Help Age India. Annual Report 2023-24. New Delhi. Pg-22. **7.** 'पिटाई से आहत बुजुर्ग ने जान दी' हिंदुस्तान, नई दिल्ली, 6 मार्च 2025 पेज 4। **8.** 'काश अपने बुजुर्गो को हम काम लायक समझते' हिंदुस्तान, नई दिल्ली, 6 जनवरी 2025, पेज 10. **9.** Desai,I.P., Some Aspects of Family in Mahuva, Asia Publishing House, Bombay 1964. **10.** Singer, Milton and Cohn Bernard S., Structure and Change in Indian society, Aldine Publishing Co., Chikago,1968. **11.** आहूजा, राम.,भारतीय सामाजिक व्यवस्था, रावत प्रकाशन, जयपुर, 2005. पेज 57। **12.** Srinivas, M. N. (1969). Social Change in Modern India. Berkeley: University of California Press. **13.** पांडे, सीता. मिश्र, सुनील कुमार. बदलते समाजिक परिवेश में वरिष्ठजनों की स्थिति : एक मनोसामाजिक विश्लेषण, Multidisciplinary Approach in Research: Emerging Paradigm, Vol.2 , Redshine Publication, Lunawala India.2024. Pg-99.

❑❑

असिस्टेंट प्रोफेसर- समाजशास्त्र,
कु. मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बादलपुर,
गौ. बु. नगर, उत्तर प्रदेश.
मो.- 9999109274

तपस्या

- तपस्या जीवन की सबसे बड़ी कला है।
- तप के बिना त्याग अधूरा ही रहता है।
- तप से काया कंचनमय होती है।
- तप ही शुद्धि का साधन है।
- तप से संसार की बड़ी-से-बड़ी सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।
- तप से मनुष्य का मन उच्चस्तर प्राप्त करता है।
- प्राचीन काल में तप का बड़ा महत्व था, आज लोग तप के अभाव में ही जीवन-पथ से भटक जाते हैं।

पं. गिरिमोहन गुरु 'नगरश्री' के नवगीत

पं. गिरीमोहन गुरु 'नगरश्री' की काव्य सृजन शक्ति को देखें तो ऐसा लगता है 'जब व्यक्ति आनंदित होता है तो उसकी ऊर्जा का ओवर फ्लो गीत, संगीत नृत्य आदि सृजन के रूप में अभिव्यक्त होता है। गुरु का काव्य सृजन उनके आनंदातिरेक की परिणति है। उनके नवगीतों के भावपक्ष एवं कलापक्ष का सूक्ष्म विश्लेषण करती 'समीक्षा के अभिनव सोपान' नामक कृति का प्रकाशन सन् 2014 में शिव संकल्प साहित्य परिषद होशंगाबाद द्वारा किया गया है। 124 पृष्ठीय पुस्तिका में 46 साहित्यकारों का संकलन किया गया है। कृति का सम्पादन राष्ट्रीय स्तर के ख्यातिलब्ध समीक्षक डॉ. पशुपतिनाथ उपाध्याय द्वारा किया गया है।

डॉ. किशोर काबरा के मतानुसार चार पीढ़ियां नवगीत में सक्रिय हैं– 'पुरानी पीढ़ी छन्दाश्रित नवगीत, बीच की पीढ़ी लयाश्रित नवगीत, नई पीढ़ी लोकगीताश्रित नवगीत और नवागत पीढ़ी लयविहीन नवगीत लिख रही है।' गुरुजी के नवगीत यथार्थवादी धरातल पर गेयता से परिपूर्ण हृदय के उद्‌गार हैं। डॉ. राधेश्याम बंधु के अनुसार मानवीयता का गुण ही मनुष्य को संवेदनशील और सहज बनाये रखने में सहायक होता है, वही मानवीय संवेदना गिरिमोहन गुरु के नवगीतों के रूप में अवतरित हुई है। डॉ. रामप्रकाश शर्मा सदस्य मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार के अनुसार आपके नवगीत विश्वविद्यालयीय पाठ्यचर्या में स्थान पाने योग्य हैं। नवगीत स्पष्ट, सहज तथा तुकान्त हैं। इनमें नये पाठकों को आकर्षित करने की, उनके कण्ठ में रमने रंगने की, स्वर में बहने की, कर्ण प्रिय बनने की मधुर क्षमता है। डॉ. पशुपतिनाथ उपाध्याय जिन्होंने इस ग्रंथ का संपादन किया है. गुरु के गीतों की सात पृष्ठों में विस्तार से चर्चा करते हैं- - 'कामना की बिजलियों के लोचनों में ज्वाल देखने वाले, स्वप्न में शैवाल देखने वाले गीतकार पं. गिरीमोहन गुरु हैं, जिन्होंने नवगीत को नये शब्द संकेत, नये बिम्ब प्रतीक एवं नव्य धरातल प्रदान किया है।' 'पं. गुरु के रचनाकार ने युगीन विसंगतियों और विडम्बनाओं से उपजी वैयक्तिक कुंठाओं और संत्रासों को समष्टिगत पीढ़ी का प्रभावशाली ढंग से अभिव्यंजित करते हुए अपनी रचना धर्मिता का सफल निर्वहन किया है।'

डॉ. विनोद निगम (होशंगाबाद) लिखते हैं- उनका सृजन बहुआयामी है, मन की भीतरी परतों को उजागर करते, खुशबू भरे क्षण भी इनमें महकते हैं। सब मिलकर उनका गीत संकलन एक ताजगी भरा टटका प्रभाव छोड़ता है।' डॉ. सूर्यप्रसाद शुक्ल, डीलिट (कानपुर) कहते हैं– 'श्री गिरीमोहन गुरु जीवन काव्य विधा के सृजनशील कवि हैं। उनके नवगीत मनुष्य के बहुआयामी सामाजिक संदर्भों में उपजी अनुभूति को लोकतत्व, लोक जीवन और नगर संस्कृति की संगतियों तथा विसंगतियों को प्रतीकात्मकता के साथ नये उपमानों और उपमेयों में संश्लिष्ट करके शिल्प के

लचीलेपन में अभिव्यक्त करने की सार्थकता से परिपूर्ण शैली और शिल्प के सुन्दर उदाहरण हैं।'

श्री प्रेमशंकर रघुवंशी (हरदा), गुरु को नर्मदा के पर्याय पुरुष मानते हुए कहते हैं– गुरुजी वर्षो से काव्य सृजन, एक साधना की तरह निरंतर पूजा पाठ की तरह करते आ रहे हैं। श्रीमती विजयलक्ष्मी विभा (इलाहाबाद) कहती हैं, छोटे-छोटे छंदों में नपे तुले शब्दों के माध्यम से निर्विघ्न रूप से थोड़े में बहुत कुछ कह देना गुरुजी की अपनी विशेषता है। कहीं वे सीधे प्रहार करते हैं, कहीं व्यंजना शैली में *'कुर्सी के पैर बने/भार वहन करें/ अफसर के जूतों की / कील सहन करें। गरीबी को देखकर वो इतने भावुक और करुणा द्रवित हो जाते हैं कि उनकी लेखनी से गीत स्वयं प्रस्फुटित होने लगते हैं-- अपने ही सपनों के दृग में/ मिर्ची झोंक रहे/घूरे पर पत्तलें पत्तलों में औंधे दोने / एक तरफ है श्वान / दूसरी तरफ मनुज छौने।*

श्री मोहन भारतीय (भिलाई) के अनुसार गुरुजी के काव्य की खासियत यह है कि उनके प्रतीक बिम्ब, उपमान, शिल्प और भाषा पूरी तरह प्रकृतिमय हैं। देखें- *एक अंधड़ ने किया दंगा, हुए सब वृक्ष नंगे / फूल सब ज्वर ग्रस्त, केवल शूल चंगे।* डॉ. छबिल कुमार मेहर (सागर)– 'शब्द चयन वाक्य विन्यास, अर्थ गांभीर्य रस, छंद, अंलकार, बिम्ब, हर दृष्टि से एक सफल गीतकार हैं, पं. गिरीमोहन गुरु। आने वाला समय निश्चित ही उनका सम्यक मूल्यांकन करेगा।' डॉ. गोपीनाथ कालमोर (खण्डवा) कहते हैं– 'आज नवगीत उस मुकाम पर स्थित है, जहाँ काव्य की अन्य विधायें फीकी जान पड़ती हैं।' आज परिवारों में वृद्ध माता-पिता की क्या स्थिति होती है, कहते हैं- *वयोवृद्ध घर के मुखिया जो / बोल नहीं पाते / मत पेटी में बंद हुए मन/खोल नहीं पाते/वृद्ध अनाथाश्रम जाने को विवश किन्तु तत्पर।'* डॉ. अशोक गीते (खण्डवा) के अनुसार 'पं. गुरुजी चाहते हैं प्रकृति का श्रृंगार बना रहे। ऋतुचक्र अपने नियमित समय में पूर्ण हो, नदियों का यौवन सदैव नवीन बना रहे। इसीलिए गुरुजी की इन पंक्तियों का उल्लेख गीते जी कर रहे हैं'- *'आगई ससुराल से पीहर / श्रावणी बूँदें / हरि चूनर का लिये परिवेश / पुष्प गुच्छों से सजाकर केश/तड़ित के सौंदर्य की किरणें / जुगल दृग मूँदें।* डॉ. मधुबाला (पटियाला)– 'साहित्य साधक, साहित्य अन्वेषी सुसाहित्य के प्रचारक एवं संवाहक पं. गिरिमोहन गुरु ने लगभग तीन दर्जन रचनायें प्रस्तुत करके पाठकों का मार्ग दर्शन किया है तथा शोधार्थियों एवं विद्यार्थियों के लिए खोज कार्य के हेतु सामग्री प्रदान की है।'

डॉ. जगदीश व्योम (नोएडा, दिल्ली) कहते हैं– पं. गिरिमोहन गुरु लोक संस्कृति और मानव मूल्यों की निरंतर खोज में पीड़ा से आहत हैं। नवगीतों में चिंतायें स्पष्ट देखी जा सकती हैं। शहरों की अपसंस्कृति ने ग्राम्य संस्कृति का भक्षण कर लिया है। गाँवों में प्रचलित लोक शब्दावली, लोक मुहावरे, लोकोक्तियां, लोक कहावतें, चौपालें, गम्पतें, पनघट आदि का विलुप्त होना अच्छा संकेत नहीं है और इस स्थिति को देखकर चुप रहना अपनी संस्कृति के प्रति कृतन्घता है। नवगीतों में यही सब चिंतायें मुखरित हुई हैं। श्री कुमार रवीन्द्र (हिसार) के अनुसार, आध्यात्मिकता को वे भारतीय वांगमय का एक अनिवार्य अंग मानते हैं। उनके अनुसार गुरु का शिल्प पुष्ट है, चाहे वह भाषा का हो या भाव का, अछूती उपमाओं ने कवि को विशिष्ट बना दिया है। उनका चयन कर स्वतंत्र विवेचना की जा सकती है। रूप कभी खिले, अधखिले गीतों में मिल जाते हैं। एक स्थल पर उपमा और मुहावरा मणि कांचन संयोग से दिखते हैं– 'साँझ के सूने कुएँ सा मन/काटने को दौड़ता है।' 'कवि को लगता है कि लहरों की आजादी किनारे चाट जाते हैं। प्रेम राजनीति, नवांकुर हीन नये गीत बुढ़ा जाते हैं।

श्रीकृष्णस्वरूप शर्मा (होशंगाबाद) कहते हैं गुरु के नये गीतों में चाँदनी की गोद, लूकी हठधर्मी, जंगल के गीत, ठिठुरी किरन, मेघ की छाँव, उमस का गाँव, गीत का ऐलान, प्रकृति रास जैसे अनेक गीत प्रकृति के अनेक रूपों व रंगों की काव्यधारा से अवतरित होते हैं। डॉ. कृष्ण गोपाल मिश्रा (होशंगाबाद), नीरसता के

माध्यम से सरसता का अनुसंधान शीर्षक, देकर लिखते हैं– 'नयी कविता की सपाट बयानी एवं नीरसता के रेगिस्तान में उन्होंने छंदलयबद्ध गीतात्मकता का आश्रय लेकर सरसता का अनुसंधान किया है। इनके नवगीत बिम्बविधान, प्रतीकात्मकता, व्यंग्यात्मकता, लाक्षणिकता आदि कला पक्षीय सौंदर्य प्रतिमानों की कसौटी पर भी खरे हैं।' श्री समीर श्रीवास्तव (भोपाल) कहते हैं– 'निश्चित ही गुरु एक उत्कृष्ट नवगीतकार हैं। न जाने क्यों वे अपने हर संग्रह में कम से कम 25-30 महत्वपूर्ण पृष्ठ आत्म प्रशंसा को प्रकाशित करने में जाया करते हैं। उनकी प्रायः सभी कृतियों में कुछ विशिष्ट प्रसंगों की पुनरावृत्ति हुई है।

उपरोक्त इन साहित्यकारों के अतिरिक्त डॉ. विजय महादेव गाडे (सांगली महाराष्ट्र) श्री भगवती प्रसाद द्विवेदी (पटना), श्री जगदीश श्रीवास्तव (विदिशा), श्रीमती सरिता सुराणा जैन (सिकंदराबाद), श्री कृष्ण शर्मा (छिंदवाड़ा), श्री राजेन्द्र सिंह गहलोत (शाहडोल), डॉ. दिवाकर दिनेश गौड़ (गोधरा), डॉ. नीलम महतो (भागलपुर), डॉ. उमेश चमोला (टिहरी गढ़वाल), डॉ. रानी कमलेश अग्रवाल (हापुड़), प्रो. भगवानदास जैन (अहमदाबाद), डॉ. हरेराम पाठक शब्दर्षि (असम), श्री रामस्वरूप मूंदड़ा (बेदी राजस्थान), श्री यात्तीन्द्रनाथ राही (भोपाल), डॉ. अमरनाथ अमन (दूरदर्शन दिल्ली), श्री बृजभूषण सिंह अनुराग गौतम (मुरादाबाद), डॉ. तिलक सिंह (शिवपुरी हापुड़), डॉ. जयनाथ त्रिपाठी (गोरखपुर), श्री मधुकर गौड़ (मुंबई), डॉ. मुचकुन्द शर्मा (बेगूसराय) ने भी गुरु के काव्य सृजन पर अपने महत्वपूर्ण ओजस्वी वक्तव्यं अभिव्यक्त किये हैं, सभी समीक्षाकारों को हार्दिक धन्यवाद।

अंत में गुरुजी की काव्यधर्मिता को नमन करते हुए कोटिशः बधाई एवं भावी सृजन, स्वस्थ दीर्घजीवन के लिए हार्दिक मंगल कामना।

–आचार्य नर्मदा प्रसाद मालवीय
द्वारा–शिव संकल्प साहित्य परिषद,
नर्मदापुरम् (म.प्र.)
मो.-9425189042

शेखावाटी का हरिद्वार 'तीर्थराज लोहार्गल'

राजस्थान के शेखावाटी अंचल में, लोहार्गल धाम झुंझुनू जिले के अंदर नवलगढ़ तहसील स्थित है। यहां श्रद्धालु स्नान कर पुण्य अर्जित करते हैं। हरिद्वार की तरह यहां भी लोग मृतकों की भष्मी प्रवाहित करते हैं। आज से हजारों साल पहले द्वापर युग के अंदर लोहार्गल को ब्रह्मह्रद के नाम से जाना जाता था। उस समय वहां पर 24 कोस के अंदर एक सरोवर था वह ब्रह्म द्वारा रचित था। भगवान विष्णु का पहला मत्स्य अवतार उसी में हुआ था। उस समय मत्स्य अवतार लेकर विष्णु ने शंखासुर का वध किया उस समय से जब भी कोई जीव जंतु या प्राणी इसका पानी पी लेता था या इसमें नहा लेता वह सीधा स्वर्ग चला जाता था जो यमराज और देवताओं में चिंता का विषय बन गया। पाप करने वाला जल पीने से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है तो हमारा क्या काम है? फिर इससे तो सृष्टि का लोप हो जाएगा। दुखी होकर सभी देवता विष्णु भगवान के पास गए तब विष्णु भगवान ने बताया सुमेरु पर्वत के पौत्र माल और केतु दोनों भाइयों का मेरा आदेश दे दो कि वह इस ब्रह्मह्रद को ढक लें। विष्णु भगवान का आदेश पाकर माल और केतु दोनों ने सरोवर को अपने नीचे ढक लिया, उसके बाद पर्वत के नीचे से 7 धाराएं निकली। पहली धारा लोहार्गल और दूसरी किरोड़ी, तीसरी शाकंभरी, चौथी नाग कुंड, पांचवीं टपकेश्वर, छठी शोभावती, सातवीं खोरी कुंड धाराओं को देखकर के देवताओं में चिंता का विषय फिर बन गया। इतने में आकाशवाणी शुरु हुई और यह बोला गया, अब जो इनके जल को पिएगा या स्पर्श करेगा वह सीधे मुक्तिधाम में नहीं जाएगा। जैसा कर्म करेगा वैसा ही फल पाएगा। यहां स्नान करने से सिर्फ पुण्य की प्राप्ति होगी तब देवताओं के मुंह पर खुशी की लहर दौड़ पड़ी और इस विशाल पर्वत शृंखला को देखकर द्वापर युग के अंदर इसका नाम शंखपदम रख दिया। कुछ वर्षों पश्चात महाभारत का युद्ध हुआ। युद्ध में विजय पांडवों की हुई और उनके हाथ से उनके सभी चचेरे भाइयों की मृत्यु हो गई। गौत्र हत्या भाई हत्या या एक समान है, तो पांडवों ने विष्णु भगवान से प्रार्थना की। हे प्रभु हमें इस पाप से

मुक्ति पाने का कोई रास्ता बताओ। जब भगवान ने कहा कि इस संसार में ऐसी एक जगह है जहां पर स्नान करने से तुम्हें पाप से मुक्ति मिल सकती है। पांडवों ने कहा है प्रभु हमें कैसे पता चलेगा? भगवान विष्णु ने कहा जहां पर तुम्हारे अस्त्र शस्त्र जल में गल जाएं, समझ लेना पाप से मुक्ति मिल गई। तब पांडव भ्रमण करते हुए पुष्कर पहुंचे तो वहां पर थोड़ा सा फर्क पड़ा। पांडवों को लगा आगे जरूर कोई तीर्थ है। चलते चलते वह लोहार्गल यानी शंखपदम स्थान पर पहुंचे और वहां पर अपना अस्त्र शस्त्र जल में छोड़ा तो वह अस्त्र शस्त्र जल में विलीन हो गए और पांडवों को पाप से मुक्ति मिल गई। पांडवों ने उस जगह का नाम लोहर्गल रख दिया। अब वहां पांडव सोमवती अमावस्या का स्नान करना चाहते थे। पांडवों ने सोमवती अमावस्या की 12 वर्ष तक प्रतीक्षा की तब जाकर आई। सोमवती अमावस्या को पांडव क्रोधित होकर श्राप दे दिया कि तुम कलयुग में बार-बार आओगी जिससे सोमवती अमावस्या कलयुग में बार-बार आती रहती है। वह अमावस्या उस सयम भाद्र मास के अंदर आई। आज भी भाद्र अमावस्या को लाखों की संख्या में श्रद्धालु यहाँ आते हैं और लोहार्गल कुंड में स्नान करते हैं। माना जाता है कि यहाँ स्नान करने से पाप से मुक्ति मिलती है।

शेखावाटी क्षेत्र के लोहर्गल को यहां का हरिद्वार कहते हैं। यहां के हिंदू समाज में जिस किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो उनकी अस्थियों को लोहार्गल गंगा में प्रवाहित किया जाता है और वह अस्थियां जल में गल जाती हैं अर्थात् समाप्त हो जाती है। आज लोहार्गल धाम राजस्थान का बड़ा ही शिरोमणि स्थान है। उसे देवों की तपोभूमि भी कहते हैं। यहां मंदिरों की संख्या 80 है। मुख्य मंदिरों में माल केतु मंदिर, रघुनाथजी का बड़ा मंदिर, खाकी अखाड़ा, शिव-मंदिर, गोपीनाथ जी का मंदिर, श्री सूर्य मंदिर, सुखदेव जी का मंदिर, बारह महादेव मंदिर, पांडव मंदिर आदि हैं। लोहार्गल में भादवा मास के अंदर गोगा नवमी से 24 कोस की परिक्रमा लगती है जो लोहार्गल कुंड से शुरू होकर किरोडी, शाकंभरी, नाग कुंड टपकेश्वर रघुनाथ कुंड खोरीकुंड और अमावस्या के दिन वापस लोहार्गल में स्नान किया जाता है। इस परिक्रमा के अंदर 7 दिन लगते हैं। गोगा नवमी से शुरु होकर अमावस्या तक चलती है। लाखों श्रद्धालु बाबा मालकेत की 24 कोस की परिक्रमा करके अमावस्या पर लोहार्गल कुंड में स्नान करते हैं और अपने को धन्य समझते हैं।

❑❑

प्रस्तोता : शंकरलाल सोमानी,
कोलकाता, मो. 9830559364

▪ *अपना विश्वास कभी न खोओ, उसे प्रज्ज्वलित रखो।*
▪ *विश्वास से पहाड़ भी हिल सकते हैं।*
▪ *बिना विश्वास का आदमी उस बूंद के समान है जो समुद्र से दूर हो चुकी है और जिसका नष्ट होना निश्चित है।*
▪ *विश्वास के बिना संसार का कोई व्यवहार और व्यापार नहीं चल सकता।*
▪ *विश्वास चाहे व्यक्तियों में हो या शक्ति में, दृढ़ होना चाहिए- तभी वह फलदायक सिद्ध हो सकता है।*

लेख- संत तुकाराम के अभंगों में सामाजिक मूल्य (अंक 4/2025) : लेख का शीर्षक उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है, केवल दलितों के उत्थान के संबंध में कुछ उल्लेख है। किन्तु जिन अभंगों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया, उनको नहीं लिखा गया है। संत तुकाराम के अभंग भक्ति प्रधान थे, किन्तु कुछ अभंगों में नैतिक मूल्य, सदाचार एवं सदव्यवहार का भी अंश है। ना.वि.सप्रे द्वारा चयनित एवं अनुदित 853 अभंगों में सामाजिक विषय का उल्लेख नहीं मिलता है। उनके कुछ अभंगों के आशय इस प्रकार हैं– 1. जो न्यायाधीश रिश्वत के लोभ में झूठा न्याय देता है, वह यदि नरक में जाये तो आश्चर्य नहीं, लेकिन साथ में पूर्वजों का अधिपतन होकर नरक के कीड़े बन जाते हैं, जान लो। 2. न्यायाधीश को चाहिए कि अन्याय जिसने किया है उसे दंड दे। 3. भूत मात्र पर दया करना ही मुख्य धर्म है। 4. जिसके अंतर में भूत दया नहीं, वह वैष्णव नहीं। 5. माँ को अच्छा मानना चाहिए, अन्य स्त्रियों को भी जैसा उचित हो, वैसे सम्मान देना चाहिए। 6. किसी से लिया हुआ कर्ज/उधार, जीवन भर का बैर और जीवन का घातक, इनसे जन्म-जन्मान्तर के बाद भी छुटकारा नहीं मिलता। 7. अच्छा कर्म करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं करता। 8. जो अपने जीव की ही तरह दूसरे जीवों के भी सुख-दुख का ख्याल करता है, वह मनुष्य गुणों की साक्षात खान है। 9. जाति से शूद्र होते हुए भी जो आचार-विचार से शुद्ध है, वह लक्षण से सच्चा ब्राह्मण है। 10. जो पाप करता है और जो उसका अनुमोदन करता है, उन दोनों का पाप एक समान है, उनका दंड भी एक जैसा है। 11. स्त्री-पुरुषों का मोह ही अनर्थ का कारण है। 12. पर स्त्री हमारे लिये माता रूक्मणी के समान है। 13. जो व्यक्ति रखैल रखता है, उसे गधे से भी नीच जानिये। 14. जो अपनी पत्नी के घरवालों को प्रेम से खिलाता-पिलाता है, किन्तु अपने माँबाप को घर से बाहर निकाल देता है, वह नरक का दुख भोगने के लिए संयमिना नामक यमपुरी में जाता है। 15. पराये धन एवं परस्त्री से बचकर जो रहता है, वह पवित्र है। 16. जो अभिमान त्यागकर सबके प्रति विनम्र रहता है, वह शास्त्रों के अध्ययन में सफल हुआ है। 17. दूसरे का धन हड़पने वाले को यम के चाकर वर्षों तक निर्ममता से पीटते हैं। स्वर्ण की चोरी करने वाले के हाथ-पैर तोड़ डालते हैं। परस्त्री गमन करने वाले को लोहे के तप्त खम्भ का आलिंगन करने को बाध्य करते हैं। 18. जो लोग अपनी वाणी से संतों की निंदा करते हैं, उनका कुम्भीपाक नरक में अच्छा स्वागत होता है।

तुकाराम के अभंगों में तत्त्वज्ञान- 1. भगवान! जिस प्रकार हमारे मन में तुम्हारे प्रति आत्मत्व की भावना है, उसी प्रकार तुम्हें भी हमारे प्रति भावना रखनी चाहिए। 2. मैं ब्रह्मरूप हो जाने के कारण अनुरेणु से भी छोटा हूं और आकाश से भी बड़ा हूं (श्रीगुरूगीता, स्कन्दपुराण

में भी ऐसा वर्णन है)। ज्ञान से संसार को निगल कर उसका तैतिरोध कर। मैंने देह के साथ अपनी अभिन्नता त्याग दी है, और अंतःकरण रूपी घट में ज्ञानदीप जलाया है। 3. जो होना है, वह नहीं रुकता, क्योंकि सारी बातों का कारण मनुष्य का पाप-पुण्य कर्म है, जो अत्यंत बलवान और चतुर है। 4. पहले कीर्तन का माधुर्य प्राप्त करने के अधिकारी बनिये, और तब ईश्वर से कीर्तन की मिठास मांगिये। वह प्राप्त हो जाने पर संचित प्रारब्ध कुछ भी शेष नहीं रहेगा। 5. सारा संसार विठ्ठल स्वरूप है। 6. यदि व्यक्ति के अंतःकरण से काम, क्रोध, लोभ, मद, अहंकार, दंभ के संवेग निकल गये हैं, तभी उसे ब्राह्मण मानना चाहिए। 7. अपने संचित कर्मों के अलावा किसी ओर को दोष न लगावें। 8. पूर्वजन्म का पुण्य न हो तो सुख का फल कैसे प्राप्त होगा। 9. वर्णाश्रम के अनुसार हमारे में जो धर्मभाग आया है, उसका हम पालन करें।

- जितेंद्रनाथ जौहरी,
ई-234, सेक्टर-14, हिरणमगरी,
उदयपुर, मो. 8003188087

वैचारिकी निरन्तर प्राप्त हो रही है, धन्यवाद। पत्रिका के मुखपृष्ठ आकर्षक व उपयोगी होते हैं। प्रकाशित सभी सामग्री पठनीय, सराहनीय है। संपादकीय उत्तम है– धर्म निरपेक्षतः भारत का एक सांस्कृतिक मूल्य, पठनीय है। धर्मसूत्रों में राजधर्म एक विश्लेषण डॉ. अजित कुमार का सत्य व पालन करने योग्य का लेख है। फतह की हुई दिल्ली सिखों ने मुस्लिम बहन को तोहफे में देदी जानकारी अच्छी मिली। कितने सिख भाइयों को मुस्लिमों ने मौत के घाट उतार दिए, फिर भी सिखों ने अपनी इंसानियत बरकरार रखी। संस्कृति और धर्म लेख आज के माहौल में एक आवश्यक विचार है। पाठक मंच में कुछ रोचक मूर्तियां/ मंदिर लेख पठनीय। उत्तम प्रकाशन हेतु साधुवाद।

सचिव- कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति
178, चौथा मुख्य रास्ता, छठवां क्रॉस,
चामराजपेट, बेंगलूरु-560018
फोन : 080-26617777

❑❑

■ वास्तविक शिक्षा विदेशी भाषा के माध्यम से हो नहीं सकती, क्योंकि शिक्षा वही है जो आपकी अंतर्निहित शक्तियों का पूर्ण विकास कर सके और यह काम विदेशी भाषा द्वारा होना असंभव है।
विदेशी भाषा का विद्यार्थी होना बुरा नहीं– पर अपनी भाषा सर्वोपरि है।

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी. आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक- डॉ. बाबूलाल शर्मा।

भारतीय विद्या मंदिर द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

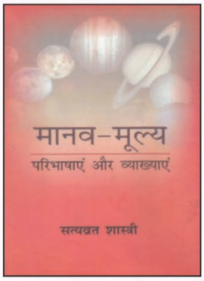

मानव मूल्य परिभाषाएं और व्याख्याएं
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 550/- पृ. सं. 304

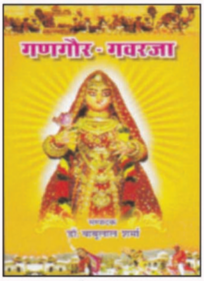

गणगौर-गवरजा
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 400/- पृ. सं. 264

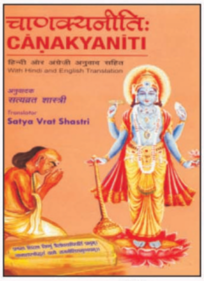

चाणक्यनीतिः
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 295/- पृ.सं. 194

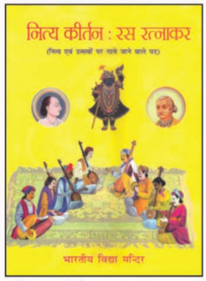

नित्य कीर्तन : रस रत्नाकर
मूल्य 900/-

मरुधरा के मोती
पुष्पा गोस्वामी
मूल्य 2250/- पृ.सं. 140

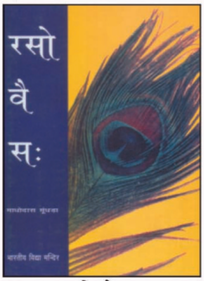

रसो वै सः
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 165

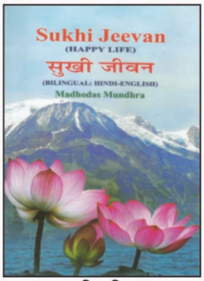

सुखी जीवन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 275/- पृ. सं. 216

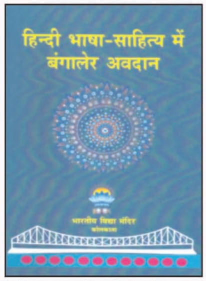

हिन्दी भाषा-साहित्य में बंगालेर अवदान
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 800/- पृ. सं. 352

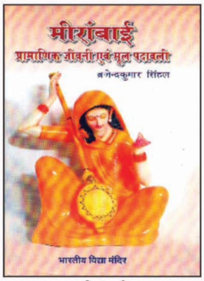

मीरांबाई
प्रामाणिक जीवनी एवं मूल पदावली
संपा. ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल
मूल्य 900/- पृ.सं. 584

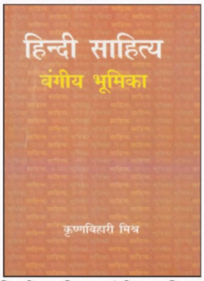

हिन्दी साहित्य बंगीय भूमिका
कृष्णबिहारी मिश्र
मूल्य 750/- पृ.सं. 551

श्रीरामकथा की कथा (प्रथम खण्ड)
आचार्य सोहनलाल रामरंग
मूल्य 600/- पृ. सं. 379

प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म
डॉ. सतीश कुमार त्रिगुणायत
मूल्य 550/- पृ. सं. 287

विश्व की कालयात्रा
डॉ. वासुदेव पोद्दार
मूल्य 700/- पृ. सं. 409

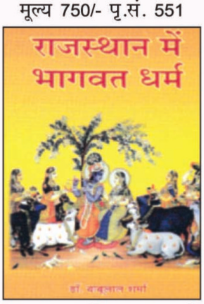

राजस्थान में भागवत धर्म
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 900/- पृ. सं. 468

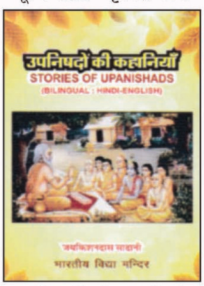

उपनिषदों की कहानियाँ
जयकिशन दास सदानी
मूल्य 400/- पृ. सं. 208

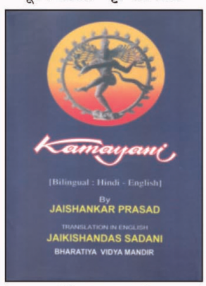

Kamayani
Tr. Jaikishandas Sadani
Price : Rs. 900/- Pages : 477

पुस्तकादेश हेतु संपर्क करें

शंकरलाल सोमानी, सिम्पलेक्स हाउस, 27, शेक्सपीयर सरणी, कोलकाता-700 017 मोबाइल : 09830559364 ई-मेल : shankar.somani@simplexinfra.com

From
BHARATIYA VIDYA MANDIR
12/1, Nellie Sengupta Sarani
Kolkata - 700087 *(W.B.)*

TO

भारतीय विद्या मंदिर एवं भारतीय संस्कृति संसद के संस्था अध्यक्ष डॉ. बिट्ठलदास मूँधड़ा एवं श्रीमती यमुना मूँधड़ा शास्त्रीय संगीत शिक्षा केन्द्र के उद्‌घाटन पर विधि विधान से पूजा कराते हुए।

निर्वाणपीठाधीश्वर आचार्य महामंडलेश्वर बीकानेर राजगुरु श्री बिशोकानन्द भारती का अभिनंदन करते हुए संस्था अध्यक्ष डॉ. बी.डी. मूँधड़ाजी साथ में सचिव श्री शंकरलाल सोमानी।

डॉ. बाबूलाल शर्मा (संपादक वैचारिकी) द्वारा शिवरात्री पर्व पर देवादिदेव महादेव पर जलाभिषेक करते हुए परिलक्षित हैं।

बायें से श्री जितेन्द्र शर्मा, श्री मनोज कुमार व संस्था अध्यक्ष डॉ. बी.डी. मूँधड़ा एवं सचिव श्री शंकरलाल सोमानी देवघर बाबा वैद्यनाथ धाम में पूजा-अर्चना व जलाभिषेक कर आते हुए।

श्रीमती यमुना मूँधड़ा एवं डॉ. बी.डी. मूँधड़ा द्वारा शिवरात्री पर्व पर देवादिदेव महादेव की पूजा-अर्चना करते हुए परिलक्षित हैं।

पं. जसराज जी के प्रमुख शिष्य पं. रतन मोहनजी शर्मा, श्री सप्तऋषि चक्रवर्ती एवं सहयोगी कलाकार शास्त्रीय संगीत पर प्रस्तुति देते हुए। दायीं ओर भारतीय विद्या मंदिर एवं भारतीय संस्कृति संसद के संस्था अध्यक्ष डॉ. बिट्ठलदास मूँधड़ा।

भक्ति वेदान्त इन्स्टीच्यूट द्वारा आयोजित सेमिनार में प्रमुख अतिथि का आसन ग्रहण करते हुए दायें से संस्था अध्यक्ष डॉ. बी.डी. मूँधड़ा, भक्तिस्वरूप ब्रजेन्द्र कुमार स्वामी, डॉ. पंकज जोशी अहमदाबाद एवं अन्य मंचस्थ विद्वानगण।